❀ अभिप्राय ❀

॥ जयतु जिनशासनम् ॥

"सृष्टि मीमांसा" पुस्तक के छपे हुए फर्मे देखने को मिले, आधुनिक युग में श्रद्धा के मूल में कुठाराघात करने वाले कुतर्क और मिथ्या विचारों के भ्रामक जाल में फसे हुए नव युवकों के दिल में सचमुच तत्त्वज्ञान की नींव जमाने वाली अद्भुत शैली से यह पुस्तक लिखी हुई है। अत. मनन पूर्वक इसे पढ़ने की हार्दिक भलामण है, भाषा की दृष्टि से इस पुस्तक में कई त्रुटिए होते हुए भी बाल भोग्य सरल शैली में तात्विक विचारणा की गहराई समझाई जा सके, इस दृष्टिकोण से यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय है।

लि०
श्रमण संघ सेवक
पू० धर्मसागर गणिवर
चरणोपासक
मुनि अभयसागर

वीर निर्वाण २४८२
वि० सं० २०१५
महा सुद-३
केसरीयाजी तीर्थ

॥ ॐ अर्हम् ॥

श्री विजय प्रेमसूरिश्वरजी जैन ग्रन्थमाला, पींडवाडा पुष्प २

❀सृष्टि मीमांसा❀

लेखक—

मास्टर खूबचन्द केशवलालजी (थाव वाला)

पार्श्व जैन पाठशाला, सिरोही (राजस्थान)

हिंदी अनुवादक—

जसराज-टी० सींघी, सिरोही

मूल्य

आठ आने

(डाक खर्च अलग)

वि० सं० २०१६

हिंदी प्रथमावृत्ति

मुद्रक.—
मानमल जैन "मार्तण्ड"
श्रावीरपुत्र प्रिन्टिग प्रेस, कडक्का चौक, अजमेर
हमारे यहा हिन्दी व अंग्रेजी में हर प्रकार की छपाई का
उत्तम प्रबन्ध है। मुख्य रूप से जैन साहित्य और
पुस्तकें मुद्रित करने का विशेष प्रबन्ध है।

सकलागम-रहस्यवेदी, परम गीतार्थ स्व० आचार्य देव
पूज्य श्रीमद् विजयदानसूरीश्वरजी महाराज के

— पट्टालंकार —

पूज्यपाद-सिद्धान्त महोदधि आचार्य देव श्रीमद्

विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज

धन्य ये महापुरुष

आप श्री ने आज प्रौढ पांडित्य तथा अगाध बहु श्रुतता हस्तगत कर रक्खी है। जिनके प्रतीक रूप उनके लिखे हुए अति सूक्ष्म तत्व विषयक ग्रंथ "संक्रमकरण भाग १-२," कर्म सिद्धि, मार्गणाद्वार विवरण, वगैरह तथा सम्पादित ग्रन्थ षट्दर्शन, कर्म प्रकृति, पंच संग्रह, निशीथ चूर्णि आदि हमें देखने को मिलते हैं। कर्म प्रकृति तथा पंच संग्रह जैसे महातात्विक ग्रंथ तो आप श्री को आत्मसाक्षात् ही हैं, इससे इस विषय में आज आप श्री अद्वितीय निष्णात के रूप में जैन समाज में प्रसिद्ध हैं।

आप श्री के दो सौ (२००) से अधिक सुविशाल संख्या में श्रमण, अपूर्व ज्ञान की उपासना कर रहे हैं। आज आप श्री के पास न्याय, वैशेषिक, वेदांत, सांख्य आदि षट्दर्शन के प्रखर अभ्यासी, जैनागमों के तलस्पर्शी ज्ञाता, प्रकरण ग्रन्थों के विशारद, संस्कृत व्याकरण के विषयों में विद्वान मुनि पुंगव रहते हैं। आपके अनेक प्रखर कलाशिष्य आपकी कीर्ति को दिगंत व्यापी कर रहे हैं। इसके उपरांत कवित्वशक्ति वाले, विवेचक, लेखक, विचारक भी विपुल संख्य मुनिवर हैं।

कोटिशः नमन हो इन पूज्य सूरिपुंगव श्री विजय प्रेम सूरीश्वरजी महाराज को।

('महापथ का यात्री' पुस्तक में से उद्धृत)

प्रस्तावना

सम्यग् श्रद्धा और पवित्र प्रज्ञा के सयोग से जिस साहित्य का सृजन होता है, वही साहित्य शिष्ट पुरुषों के आदर को प्राप्त करता है, और वही साहित्य मोक्षोपयोगी बन सकता है।

स्वाजित श्रद्धा युक्त एव प्रज्ञाविहीन साहित्य, मानव जाति को अधोगति के मार्ग पर ले जाता है, ऐसे साहित्य मे मनको लुभाने वाले सारे ही रस विद्यमान हों, तब भी उनका क्या अर्थ ? विषय राग एव भव भ्रमण की वृद्धि करने वाले रसो का पोषण करने का पापाचरण जो साहित्य करता हो वह सदैव अनादरणीय ही होता है, क्योंकि जीवात्मा के आवरिक पतन मे ऐसा साहित्य सहायक बनता है।

आत्मा के आध्यात्मिक उत्थान के लिये परमात्मा श्री जिनेश्वर देव के शासन ने अगाध साहित्य की भेंट विश्व के सामने रक्खी है। वह साहित्य मुख्यत चार भागों मे विभाजित है (१) द्रव्यानुयोग (२) चरण करणानुयोग (३) धर्म कथानुयोग (४) गणितानुयोग।

विश्वरचना, विश्व के द्रव्यों का स्वरूप, उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य आदि के तात्विक अनुचिन्तन द्रव्यानुयोग के अतर्गत आते हैं।

सृष्टि मीमासा की गणना द्रव्यानुयोग में की जा सकती है। प्रस्तुत कृति के अवलोकन से पाठकों से यह बात छिपी नहीं रहेगी कि द्रव्यानुयोग के विषय में इस पुस्तक के लेखक श्री सूरचन्दभाई मास्टर का अनुमोदनीय ज्ञान है। जैनागमों की दृष्टि से शरीर रचना को लेखक ने सरल भाषा मे एव युक्ति पूर्वक समझाया है और ईश्वर कर्तृत्व आदि विषयों पर लेखक ने मार्मिक छानबीन की है।

आधुनिक काल में जब कि आर्य प्रजा के कई लेखक मनो-रजक साहित्य के सृजन की ओर झुकते जा रहे हैं, कथा-वार्ता और प्रवास के वर्णन आदि में रुचि ले रहे हैं, विलास तथा विज्ञान से ओतप्रोत साहित्य प्रजा के मस्तिष्क में ठूसने का प्रयत्न कर रहे हैं, जब कि ज्ञान और उसमें भी बुद्धिगम्य तथा श्रद्धागम्य तत्वज्ञान के सृजन में बहुत अल्प सख्या में लेखक रुचि रखते हैं, ऐसे समय में इस पुस्तक के श्रद्धालु लेखक ने "शुभे यथाशक्ति यतनीय" इस वचन को हृदयस्थ करके अपने परिपक्व तत्वचिंतन को इस पुस्तिका के द्वारा प्रवाहित किया है।

लेखक की अन्य पुस्तकें हिन्दी-गुजराती भाषा में प्रकाशित हो चुकी हैं, 'कल्याण' (पालीताणा से प्रकाशित) मासिकमें इनकी कर्मवाद विषयक मननीय लेखमाला जारी है। लेखक अपने प्रयत्न आगे भी इस दिशा में गतिशील बनावे और लेखक के इन अभिनन्दनीय प्रयासों का जैन समाज सत्कार करे, यही मंगल अभिलाषा है।

पोषवदी ६ (गुजराती)
वि० स० २०१५
श्री सिद्धाचल यात्रा संघ
चारुपतीर्थ

लि०
पूजनीय गुरुदेव श्री भानुविजय
गणिवर
चरण कमल भृंग
मुनि भद्रगुप्त विजय

प्रकाशकीय नीवेदन

श्री सर्वज्ञदेव भाषित सम्यग्ज्ञान के प्रचार द्वारा भारत की अध्यात्म संस्कृति के उच्च संस्कार भारतवासियों में विकसित हों, इस शुभ भावना से प्रेरित होकर एक ग्रन्थमाला शुरु करने की बहुत समय से हमारी हार्दिक इच्छा थी। इसे लेखक मास्टर खूबचंद भाई के सुयोग से सफल बनाने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसीलिये इस ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में "कर्म-मीमांसा" नामक पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित करने के बाद तुरन्त ही "सृष्टि मीमांसा" नामक इस पुस्तक को इस ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प के रूप में प्रकट करने में हम समर्थ हो सके हैं।

जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त इतने अधिक उच्चकोटि के और महत्वपूर्ण हैं कि यह आज की साधारण शैली से सरल भाषा में समाज के सामने प्रस्तुत किया जाय तभी दुनिया को विश्वशान्ति के सच्चे मार्ग पर लाने में सफलता प्राप्त हो सकती है। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धि में बावला बना हुआ समाज, आज चाहे न समझे कि ये सिद्धान्त किसी समय जगत के सर्वोच्च शिखर पर विद्यमान थे, परन्तु आज के विज्ञान-युग को एक सुलभ क्रीडा समझे ऐसे अगाध एवं अबाध ज्ञान से परिपूर्ण जैन सिद्धान्त को जगत जब अपनाएगा तब उसकी विस्मृत शक्तियां पुनः नव पल्लवित होंगी। जब दुनिया इस दिशा में उत्साहपूर्वक कदम उठाएगी तभी वास्तविक आजादी प्राप्त कर सकेगी। इन

सिद्धांतों के प्रति दुनिया ही नहीं, हमारा जैन समाज भी उपेक्षा कर रहा है। ऐसे समय में धर्म श्रद्धालु श्रीमत वर्ग का भी अपनी लक्ष्मी के सद्व्यय का प्रवाह, ऐसे साहित्य के प्रचार में ही बहाने में शासन सेवा के सच्चे लाभ की प्राप्ति माननी चाहिये।

दिन प्रतिदिन जैन समाज के युवक युवतियों में से धर्म भावना कम होती जा रही है। स्कूलों और कालेजों में उन्हें जो शिक्षा मिलती है वह उनके जैनत्व को कुठाराघात करनेवाली बनती है। अतः ऐसे समय में हम अपने समाज के बालक बालिकाओं को, इन सर्वज्ञ कथित महा मूल्यवान सिद्धांतोंसे अन जान रख कर, भौतिकवाद की पोषक संस्कृतिसे उन्हें न बचाएं तो हम उनके प्रति कृतघ्न सिद्ध होंगे।

"आग लगे तभी कुआ खोदने जाना" इस मूर्खतापूर्ण रीति को अपनाने की अपेक्षा जल्दी जागृत होने में ही हमारी शोभा है। अतः सुसंस्कारों का अभाव होता जाए उसके पूर्व ही हमें जागृत होकर, सावधानी से सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक के प्रकाश से, अपने युवक युवतियों के भौतिकवाद पोषक कुसंस्कारों के घोर अंधकार को मिटा देने के लिये शीघ्र प्रयत्नशील हो जाना चाहिये।

शांति की प्राप्ति के मार्ग के लिए दुनिया आज दौड़ रही है, मृग तृष्णा समान अनेक मार्गों पर अविरल दौड़ते हुए मानव को लेश मात्र भी सुख की प्राप्ति न होने से दुनिया इतनी उकता

चुकी है कि अब तो उसे कोई भी मार्ग सच्चा नहीं मालूम होता है। फिर भी आशा ही आशा में वह एक अथवा अन्य मार्ग को अपनाता है ऐसे समय में ओ जैन समाज! मार्ग भूले हुए मानवों का सर्वज्ञ कथित वचनामृत का पान करवा कर, अर्हन् शासन की प्रकाश किरणों को फैलाकर, सत्य शांतिदायक मार्ग की ओर मोड़ने में तू प्रमाद का सेवन क्या कर रहा है? तेरी भावदया का झरना सूख क्यों गया है? उठ! सावधान हो, प्रयत्नशील बन, और 'सवी जीव करूं शासन रसी' इस भावना को उत्तेजित कर। समाज की सच्ची सेवा तो इसी में है, वीतरागदेव की सच्ची भक्ति भी इसी में है।

कोई समय ऐसा भी था कि मात्र श्रद्धा के बल पर भी, शांति का अनुभव समाज कर सकता था स मार्ग पर चल सकता था। बुद्धिवाद के इस विषमकाल ने तो सुश्रद्धा को जर्जरित बना रक्खी है, अतएव श्रद्धाविहीन मानव अशांति की खाई में अधिक से अधिक गिरता जा रहा है।

दूध का जला हुआ जैसे छाछ को भी फूंक फूंक कर पीता है, इसी दृष्टांतके अनुसार अज्ञानवश विश्वास खोया हुआ मानव, सर्वज्ञ दर्शित मार्ग के प्रति भी अविश्वास करने वाला बन गया है। इसे आश्वासन देकर विश्वासु बनाने के लिये सर्वज्ञ सिद्धान्तों के अमृत भोजन से इसे तृप्त करें। जब सर्वज्ञ सिद्धान्तों का स्वाद चखेगा तब अपने आप यह इसका इच्छुक बनेगा, फिर तो

स्वयं इसका सेवन करेगा और फिर तो उस भोजन की खोज में वह अहर्निश तत्पर रहेगा। सर्वज्ञ शासन की नरी यह सेवा छोटी नहीं समझी जाएगी। शारीरिक भोजन तो तूने अनेक बार परोसे होंगे, पर तु ज्ञानामृत भोजन की सामग्री तैयार करवाने में तू अपनी सामर्थ्य का उपयोग न करे, अर्थात् अपनी शारीरिक अथवा आर्थिक शक्ति का व्यय न करे तो तू जैन शासन का रागी कैसा? शासन का रागी तुझे बनकर बताना चाहिये। जैन समाज का यहां प्रसंगोपात इतनी चेतावनी देने के बाद अब प्रस्तुत प्रकाशन के विषय में कुछ कहें।

जैनागमों में कथित विस्तृत प्रमाणवाली प्रत्येक बात बाल [illegible] समझ के लिये अति कठिन [illegible] थे तथा भाविक
इस [illegible] न रहें, [illegible] उन बातों
[illegible] का [illegible] पूरी [illegible]

पुस्तक प्रकाशन का यह कार्य हमारे लिये अभी प्रारम्भिक ही है। अत भविष्य में पुस्तक में एक भी अशुद्धि न रहे, इस लक्ष्य को हम कभी न भूलेंगे। पुस्तक का विषय लेखक ने यथाशक्ति सक्षिप्त एव सरल बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी कई शब्द इस विषय के सर्वथा अनभिज्ञ वाचक की समझ में न आये, ऐसा स्वाभाविक है, परन्तु ऐसे जटिल पारिभाषिक शब्द विषय समझ में बाधा भी उपस्थित करते हों तब भी उनसे न रुककर विषय के ज्ञाता द्वारा पुस्तक का विषय समझने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

इस पुस्तक के प्रकाशन में शाह शातिलाल रायचन्द बम्बई की पेढ़ी (पिण्डवाडा वाले) की ओर से २५०) रु० की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है। एतदर्थ आप श्री को कोटिश धन्यवाद है।

पुस्तक पर कीमत रक्खी गई है, फिर भी पुस्तक के खर्च की शेष रकम को यदि किसी उदार गृहस्थ से सहायता मिल गई तो पुस्तक भेंट के रूप में दी जाएगी इसके बाद "आत्म स्वरूप विचार" नामक हिन्दी पुस्तक इस ग्रन्थ माला के तृतीय पुष्प के रूप में प्रकट करने की हमारी इच्छा है, और उसके बाद क्रमश षटद्रव्य स्वरूप, पुद्गल मीमासा, जैन दर्शन का कर्मवाद, आदि पुस्तकें प्रस्तुत ग्रन्थमाला के पुष्प के रूप में प्रकट करने के हम इच्छुक हैं। हमारी इस शुभ भावना को पूर्ण होने में शासनदेव सहायता करें तथा श्रद्धावान् श्रीमत वर्ग स्वलक्ष्मी की सहायता के द्वारा हमें उत्साही बनावें यही शुभेच्छा है।

—प्रकाशक

स्वय इसका सेवन करेगा, और फिर तो उस भोजन की खोज में वह अहर्निश तत्पर रहेगा। सर्वज्ञ शासन की तरी यह मेवा छाटी नहीं समझी जाएगी। शारीरिक भोजन तो तूने अनेक बार परोसे होंगे, पर तु ज्ञानामृत भोजन की सामग्री तैयार करवान म तू अपनी सामर्थ्य का उपयोग न करे, अर्थात् अपनी शारीरिक अथवा आर्थिक शक्ति का व्यय न करे तो तू जैन शासन का रागी कैसा ? शासन का रागी तुझे बनकर बताना चाहिये। जैन समाज को यहा प्रसगोपात इतनी चेतावनी देन के बाद अब प्रस्तुत प्रकाशन के विषय म कुछ कहें।

जैनागमों में कथित विस्तृत प्रमाणवाली प्रत्यक बात बाल जीवों की समझ क लिये अति कठिन होन से तथा भाविक आत्माए इस विषय से अनभिज्ञ न रहें, इस दृष्टि से इन बातों में से कुछ बातें मूल सिद्धात को बाधा न आए इस बात की पूरी सावधानी रखते हुए सरल पद्धति से प्रकाशित करने के उद्देश्य से यह ग्रन्थमाला हमने प्रारम्भ की है।

पुस्तक प्रकाशन में लेश मात्र भी अशुद्धि न रहें इसलिए प्रुफ दो बार जाचे गये हैं, तब भी प्रेस क दोष में कुछ अशुद्धिया रह गई हैं, कहीं २ अक्षर ही उड़ गये हैं। इसके लिये वाचक वृन्द से हम क्षमाप्रार्थी हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में उसका शुद्धि-पत्रक रक्खा गया है, उसके अनुसार उन अशुद्धियों को सुधारने के लिये प्रत्येक वाचक से हमारा नम्र निवेदन है।

पुस्तक प्रकाशन का यह कार्य हमारे लिये अभी प्रारम्भिक ही है। अतः भविष्य में पुस्तक में एक भी अशुद्धि न रहे, इस लक्ष्य को हम कभी न भूलेंगे। पुस्तक का विषय लेखक ने यथाशक्ति सक्षिप्त एवं सरल बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी कई शब्द इस विषय के सर्वथा अनभिज्ञ वाचक की समझ में न आएँ, ऐसा स्वाभाविक है, परन्तु ऐसे जटिल पारिभाषिक शब्द विषय समझ में बाधा भी उपस्थित करते हों तब भी उनसे न उकताकर विषय के ज्ञाता द्वारा पुस्तक का विषय समझने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

इस पुस्तक के प्रकाशन में शाह शांतिलाल रायचन्द बम्बई की पेढ़ी (पिण्डवाडा वाले) की ओर से २५०) रु० की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है। एतदर्थ आप श्री को कोटिशः धन्यवाद है।

पुस्तक पर कीमत रक्खी गई है, फिर भी पुस्तक के खर्चे की शेष रकम की यदि किसी उदार गृहस्थ से सहायता मिल गई तो पुस्तक भेंट के रूप में दी जाएगी इसके बाद "आत्म स्वरूप विचार" नामक हिन्दी पुस्तक इस ग्रन्थ माला के तृतीय पुष्प के रूप में प्रकट करने की हमारी इच्छा है, और उसके बाद क्रमशः षट्द्रव्य स्वरूप, पुद्‌गल मीमांसा, जैन दर्शन का कर्मवाद, आदि पुस्तकें प्रस्तुत ग्रन्थमाला के पुष्प के रूप में प्रकट करने के हम इच्छुक हैं। हमारी इस शुभ भावना को पूर्ण होने में शासनदेव सहायता करें तथा श्रद्धावान् श्रीमन्त वग स्वलक्ष्मी की सहायता के द्वारा हमें उत्साही बनायें यही शुभेच्छा है।

—प्रकाशक

❀ शुद्धि पत्रक ❀

पाठकों से निवेदन है कि यथाशक्य संशोधन करके यह शुद्धि पत्रक दिया गया है, फिर भी कहीं कहीं रेफ अनुस्वार आदि की अशुद्धि रह गई हो तो उसे तथा ये अशुद्धियां प्रथम सुधार कर पुस्तक का उपयोग करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	६	पढगा	पढेगा
१६	१८	ैदा	पैदा
२४	१६	उपसना	उपासना
२५	१४	का	की
२६	३	कार्माण	कार्मण
२७	१६	वाहय	वाह्य
२६	१	करण	कारण
३२	६	विरत्रसके	विरत्रसाके
३२	२०	अय	अ य
३३	११	आभारा	आभारी
३३	२०	सम्पर्ण	सम्पूर्ण
३४	६	वै ानिकों	वैज्ञानिकों
३४	१८	जरकी	जीवकी
३४	१६	बढ ा है	बढती है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	२०	सन	सब
३४	२१	वि ान ी	विज्ञान भी
३५	१	वर्गा	वर्गो
३५	७	पुद्गला	पुद्गलों
३५	१५	चम	चर्म
३६	६	न ीन	नवीन्
३७	१	ाता	जाता
३७	८	पदगल	पुद्गल
३८	१	जाद	जादू
३८	३	आविष्का	आविष्कार
३८	७	ानियोंके	ज्ञानियोंके
३९	२	भली	भूली
३९	४	दगल	पुद्गल
४०	१६	भा ा	भाव
४०	२१	शाभ	शुभ
४१	१	ि ा	क्रिया
४१	१०	वातविक	वास्तविक
४२	११	दगल	पुद्गल
४२	१६	दगलो	पुद्गलों
५०	२१	पदगल	पुद्गल
५१	६	र्गणा	वर्गणा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१	१३	कम	कर्म
५२	५	पूण	पूर्ण
५४	७	ेने	लेने
५६	२	भ न्नता	भिन्नता
५६	५	ससारी	ससारी
५६	१२	मयोपन	सयोपन
६३	१	थण	थण
६३	१	कम	कर्म
६३	२०	व	वर्णा
६६	१	ली	वाली
६६	२	कम	कर्म
७३	२१	अमदेशो	अप्रदेश
७६	२१	भागादारी	भागीदारी
७७	१६	प्रतिया	प्रकृतियाँ
७८	२१	पेदर्थो	पदार्थों
७६	२०	य हुए	यन हुए
८०	१६	इकार	इन्कार
८८	१	पस	टे पसा

सृष्टि मीमांसा

-⋙ 卐 ⋘-

सृष्टि रचना के सम्बन्ध म सोचने से पूर्व हम सृष्टि में रही हुई वस्तुओं के विषय म विचार करें कि इस सृष्टि मे अनेक प्रकार की वस्तुएँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं, वे सभी प्रथमत किसी न किसी प्राणी के शरीर रूप में होती है। जब उस शरीर में से आयु पूर्ण होने पर शरीर धारी जीव चला जाता है तब उस शरीर का अन्य किसी भी जीव के त्यक्त शरीर के साथ मिश्रण करके अथवा इस प्रकार मिश्रित वस्तु के साथ मिश्रण करके मानव नई २ चीजें बनाता है।

आज के विज्ञान युग में पदार्थ के मिश्रण में मूल तत्व के रुप म जो ९८ तत्त्व माने जाते हैं, उन तत्वों म से कई तो ऊपर कथनानुसार भिन्न भिन्न जीवों के द्वारा त्यक्त भिन्न २ शरीरों के मिश्रण रुप म हैं और कई मिश्रण रुप में न होकर मात्र त्यक्त शरीर ही हैं। उदाहरणार्थ काँच, वालू के रस से बनी हुइ वस्तुएँ हैं, और वालू, पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर है। उसमें से

जब जीव चले जाते हैं, तब बालू रूपी शरीर में से मनुष्य काँच बनाता है, और काँच की विविध वस्तुएँ बनाता है।

इसी प्रकार वस्त्र रुई से बनता है। रुई, कपास से प्राप्त होती है, और कपास वनस्पतिकाय के जीवों का शरीर है, यह जीव, वनस्पतिकाय में से मुक्त होकर जब चला जाता है तब उस निर्जीव कपास मे से निकली हुई रुई से वस्त्र बनता है। इस प्रकार अति सूक्ष्म रीति से विचारने से पता चलता है कि जगत की प्रत्येक दृश्यमान वस्तु अमुक २ जीवों के शरीर ही हैं। यह सब समझने के लिये जगत का प्राणि शास्त्र समझना चाहिये। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव का अस्तित्व जिसे मान्य नहीं या जिसकी इसमें श्रद्धा नहीं उसके लिये तो इस बात को समझनी कठिन ही है। आज तो वैज्ञानिक जगत में भी इन वस्तुओं में जीव की विद्यमानता अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुकी है। ऐसे जीवों का सजीव शरीर अथवा त्यक्त शरीर भी मूल तत्व नहीं हैं, परन्तु वे भी अमुक मौलिक तत्व के परिणमन से ही उत्पन्न होते हैं। यह मौलिक वस्तु क्या है, कहा है, कैसे रही हुई है, उसके परिणमन से शरीर रचना कैसे होती है, किसके

द्वारा होती है ? इन सब प्रश्नों का विशद एवं स्पष्ट समाधान जैन सिद्धान्तों के अध्ययन से ही हो सकता है और इस अध्ययन द्वारा प्राप्त शरीर रचना के बोध से सृष्टि रचना सम्बन्धी सपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

संस्कृत के 'सृज' धातु से बने हुए सृष्टि शब्द का अर्थ "बनाया हुआ" होता है। "सृज" धातु में 'क्त' प्रत्यय लगकर 'सृष्टि' शब्द बना है और उसका अर्थ होता है "बनी हुई चीज"।

सृष्टि में मुख्य रूप से जीव और पुद्गल, इन दो वस्तुओं का ही जगत के प्राणियों को अनुभव होता है, और ये ही दिखाई देते हैं। जैन शास्त्रानुसार तो इन दो के अतिरिक्त अन्य चार मौलिक द्रव्यों का भी वर्णन मिलता है। सृष्टि रचना में या तो शरीर रचना में स्थूल रूप से जीव और अजीव इन दो द्रव्यों का ही भाग होने से छद्मस्थ जीव, उस जीव को अनुभव से और पुद्गल को कार्य रूप में देख सकते हैं। इन दो के सयोग से ही यह सृष्टि हमारे सामने है। दो में से एक भी वस्तु न होती तो इस सृष्टि का अस्तित्व भी असभव होता।

प्रत्येक प्राणी का शरीर पुद्गल रूप जड वस्तु से बना हुआ है और जीव के द्वारा रचित यह शरीर

विविध रूपों में हम देख सकते हैं। शरीर यह रचित वस्तु है, परन्तु शरीर जिस तत्व से अथवा द्रव्य से बना हुआ है वह तत्व या द्रव्य, रचित वस्तु नहीं है। अर्थात् वह तो मूल तत्व है। रचित वस्तु का आरम्भ हो सकता है, मूल वस्तु का आरम्भ नहीं हो सकता है, क्योंकि वह शाश्वत् और अनादि है। शरीर स्वयं निर्मित वस्तु भी नहीं है, अर्थात् उसका बनाने वाला भी कोई होना चाहिये। परन्तु जिस तत्व का शरीर बना हुआ है वह तत्व मूल वस्तु होने से उसका बनाने वाला कोई नहीं हो सकता। यह मूल वस्तु क्या है? इसका सम्पूर्ण वर्णन तो सर्वज्ञ कथित आगम (शास्त्रों) में से ही प्राप्त हो सकता है।

सृष्टि का मूल तत्व समझने के लिये आधुनिक वैज्ञानिकों के अहर्निश प्रयत्न चलते रहने पर भी उन्हें इसके संबंध में जरा भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। जिसे वे लोग पहिले मौलिक तत्व समझते थे वह आज संयुक्त पदार्थ सिद्ध हो चुका है और जिसे आज वे मूल तत्व के रूप में बताते हैं उसके सम्बन्ध में भी निश्चय पूर्वक कहना कठिन है कि, वह आगे कभी भी संयुक्त पदार्थ के रूप में सिद्ध नहीं होगा।

साइन्सवेत्ता इतना तो जरूर कहते हैं कि संसार की

सभी वस्तुएं तत्वों से बनी हैं, परन्तु वे तत्व किसी से नहीं बनते हैं या बने हैं। वैज्ञानिक जे ए. मील ने अपने "धर्म सबधी तीन व्याख्यानों' (Three Essays on Religion) में इस प्रकार लिखा है कि —

"सृष्टि में एक स्थायी तत्व है, और एक अस्थायी। परिणाम सदा पहिले परिणामों के कार्य रूप होते हैं। जहां तक हमको ज्ञात है स्थायी सत्ताएं कार्य रूप हैं ही नहीं। यह सत्य है कि हम घटनाओं तथा पदार्थों दोनों को ही कारण से बना हुआ कहा करते हैं, जैसे पानी, ओक्सीजन और हाइड्रोजन से मिल कर बना है। परन्तु इतना कहने से हमारा केवल इतना तात्पर्य होता है कि जब उनका अस्तित्व आरम्भ होता है तो यह आरम्भ, किसी कारण का कार्य रूप होता है, परन्तु उसके अस्तित्व का आरम्भ पदार्थ नहीं है बल्कि घटना मात्र है। यदि कोई यह आक्षेप करे कि किसी वस्तु के अस्तित्व के आरम्भ का कारण ही उस वस्तु का भी कारण है, तो मैं इस शब्द प्रयोग के लिये उससे झगड़ा नहीं करता परन्तु उस पदार्थ में वह भाग, जिसके अस्तित्व का आरम्भ होता है, सृष्टि के अस्थाई तत्व से सबध रखता है अर्थात् बाहरी रूप, तथा वह गुण जो अवयवों के संयोग अथवा संश्लेषण से उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ में इससे

भिन्न एक स्थायी तत्व भी है अर्थात् एक या अनेक विशेष मौलिक सत्ताएँ जिनसे वह पदार्थ बना है, हम इनके अस्तित्व के आरम्भ को नहीं मानते। जहा तक मनुष्य के ज्ञान की सीमा है वहा तक यही सिद्ध होता है कि उनका आदि नहीं और इसलिये उनका कारण भी नहीं। हा वह स्वय, प्रत्येक होने वाली घटना के कारण या सहायक कारण अवश्य हैं।''

उपरोक्त कथन के आधार पर एक बात तो हमें माननी ही पडती है कि शरीर रचना में भी मौलिक तत्व के रूप में रहे हुए पुद्गल परमाणुओं का समूह किसी की निर्मित वस्तु नहीं हैं। अर्थात् उनका आरम्भ काल भी न होने से वह अनादि है। साराश यह हुआ कि शरीर यह रचित वस्तु है, परन्तु शरीर के उपादान कारण जो तत्व (पुद्गल परमाणु) हैं, वे अनादि मूल तत्व हैं और उन पुद्गल परमाणुओं में से शरीर रचना होती है।

दार्शनिकों में एक ऐसा भी मत है जो सृष्टि के कार्यत्व पर किसी अश तक आक्षेप करता है। उस मत का नाम है "विवर्तवादी"।

"अतात्विको अन्यथा भाव विवर्त इति उदीरित।"

जो वस्तु न हो और मालूम पडे तो उसका नाम है

विवर्त । जैसे साँप नहीं है और मालूम पडता है, या जल नहीं है और मालूम पडता है । कुछ दार्शनिकों का मत है कि ससार वस्तुत एक भ्रमात्मक कल्पित वस्तु है, या यों कहना चाहिये कि कल्पना मात्र है । स्वप्न में मनुष्य को हाथी, घोडे, वृक्ष आदि सभी दिखाई देते हैं पर आँख खुलने पर कुछ नहीं रहता । इसी प्रकार इस ससार को भी हम स्वप्न के समान देख रहे है । जब हमारी ज्ञान की आँख खुलती है तो यह स्वप्न शीघ्र हमारी आँखों से लुप्त हो जाता है' । इस मत के अनुयायियों की दृष्टि में ससार कोई वस्तु ही नहीं, फिर इसको कार्य कैसे माना जाय । इनका तो केवल यह कहना है कि जिसको हम व्यवहारिक बोल चाल में 'ससार' कहते हैं वह तात्विक दृष्टि से स्वप्न मात्र है । वस्तुत ससार की यह भिन्न २ वस्तुए जिनकी भिन्नता ही एक विचित्रता उत्पन्न कर रही है, स्वप्न से अधिक और कुछ नहीं है । मूल तत्व एक है जिसको "ब्रह्म" कहते हैं ।

इस प्रकार के स्वप्नवाद या ब्रह्मवाद की मान्यतानुसार तो ससार का अस्तित्व ही उड़ जाता है, फिर उसकी रचना की तो बात ही कहाँ रही ? जिस मान्यता में वस्तु का अस्तित्व ही उड जाय तो फिर उस वस्तु का उपादान कारण क्या और उसका बनाने वाला कौन ?

यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होते। परन्तु प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली सृष्टि के अस्तित्व को भ्रम या स्वप्न तुल्य मान कर उसका इन्कार करना इसे कोई बुद्धिमान मनुष्य कदापि स्वीकार नहीं करेगा। अतः उस चर्चा में उतरने की यहाँ तनिक भी आवश्यकता नहीं है। दृष्टिगम्य इस सृष्टि की सारी वस्तुए पुद्‌गल परमाणु (अन्य भाषा में कहें तो प्रकृति परमाणु) की बनी हुई हैं इतना तो निश्चित है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस सृष्टि का कोई कर्ता है अथवा नहीं। इस संबंध में जगत में भिन्न २ मत प्रवर्तित हैं। प्रथम कथित स्वप्नवाद या भ्रमवाद की मान्यता में तो सृष्टि स्वप्नवत् होने से उसका अस्तित्व ही असभव ठहरा है और उसी के आधार पर उसके कर्त्ता और अकर्त्ता का प्रश्न ही सामने नहीं आता। परन्तु सृष्टि का अस्तित्व सत्य है, ऐसा मानने वाले वर्ग में भी कुछ वर्ग, सृष्टि रचना में कर्त्तारूप किसी को स्वीकार नहीं करता बल्कि सृष्टि रचना आकस्मिक रीति से, स्वभाव से, या कुदरत (नेचर) से ही होती है ऐसी मान्यता रखता है। वर्तमान वैज्ञानिक भी इसी मान्यता का अनुसरण करते हैं, और एक वर्ग ऐसी भी मान्यता वाला है, कि, सृष्टि रचना करने वाली एक ज्ञानमय सत्ता है। इस मान्यता के संबंध में सोचने से पूर्व हम प्रथम कथित मान्यता के सम्बन्ध में विचार करें।

आकस्मिक वादी

सृष्टि प्रवन्ध की जो व्याख्याए आकस्मिकवादियों ने की हैं उन सबका आधार एक ही बात पर है कि, नित्य ऐसे प्रकृति के परमाणु असख्य प्रकार से सयुक्त होते रहने से भूत तथा भविष्य में जो करोडों और अरबों प्रकार के सयोग बने हैं, और बनेंगे, उनमें से ही एक हमारी वर्त्तमान सृष्टि है, और ऐसे सयोग किसी के भी प्रयत्न के परिणाम स्वरूप नहीं होकर आकस्मिक ही हैं।

आकस्मिक वाद की इस मान्यता के सम्बन्ध में विचार करते समय सामान्य मानव भी समझ सकता है कि सृष्टि प्रबन्ध का अकस्मात् होना कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता है, कारण यह है कि आकस्मिक तो वही कहा जा सकता है जिसकी उत्पत्ति ही कदाचित हो। सदा के लिये नियम बद्ध तैयार होने वाली वस्तु को आकस्मिक मानना भारी भूल है। प्रवाह की अपेक्षा सृष्टि सम्बन्ध अनादि अनत है, परन्तु एक जीव अमुक शरीर धारी के रूप में उत्पन्न होते समय होने वाली शरीर रचना के हिसाब में सादि सात है। इस प्रकार सदा के लिये समग्र जगत में नई २ जातियों में प्रत्येक समय अनेक जीव नये २ देह धारी के रूप में जन्म धारण करते

समय उनकी शरीर रचनारूप स्वसृष्टि की रचना करते रहते हैं। इस प्रकार समय २ पर अनन्त जीवों की नवीन २ देह धारण रूप सृष्टि रचना का प्रवाह सदा के लिये बहता ही रहता है। साथ ही जो २ जीव मनुष्य के रूप में जन्म धारण करते हैं उन २ प्रत्येक मानवीय जीव के शरीर की रचना प्राय समान ही बनती है। इसी प्रकार जिस २ जाति के अन्य जीव हैं उस २ जाति के प्रत्येक जीवों की शरीर रचना प्राय' एक समान ही होने के नाते, शरीर रूप में सयुक्त होने वाले पुद्गल परमाणुओं में नियम बद्धता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार प्राणियों की शरीर रचना होने में परमाणु की सयुक्तता को आकस्मिक कहने में वस्तु स्वरूप के ज्ञान का ही अभाव है।

उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है कि जो सयोग नियम बद्ध तथा सतत प्रवाह के रूप में गति मय होते हैं उन सयोगों का कर्त्ता चेतन प्राणि अवश्य होता है, यद्यपि परमाणुओं का अमुक सयोग अकस्मात् भी होता है। जिस प्रकार आकाश में दिखाई देने वाले विविध रगों, तथा इन्द्रधनुष आदि का उद्भव परमाणु के आकस्मिक सयोगों का ही परिणाम है, परन्तु ऐसे सयोग नित्य प्रति समय नियम बद्ध नहीं होने से ऐसे आकस्मिक दृष्टान्तों के द्वारा प्राणियों की शरीर रचना

रूप सृष्टि को या अन्य किसी रचना को, भी आकस्मिकता में रखने का दुराग्रह नहीं किया जा सकता और इस प्रकार प्रत्येक रचना को आकस्मिकता की श्रेणी में रखने वाले से हम प्रश्न कर सकते हैं कि तुम्हारे घर में गेंहू स्वय सयुक्त होकर रोटी क्यों नहीं बना देते, मिट्टी स्वय मिल कर इटों में परिणत क्यो नहीं हो जाती, इसका प्रत्युत्तर उनकी ओर से शायद यही मिलेगा कि रोटी और ईट आदि की रचना करने वाले को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदी तथा मनुष्य आदि के शरीर की रचना करने वाले को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते हैं, और इसलिये हम उस रचना को आकस्मिक कहते हैं। तब दूसरा प्रश्न हम उनसे यह पूछ सकते हैं कि सूर्य की रचना आकस्मिक रीति से हो सकती हो तो छोटा सा दीपक अकस्मात् क्यों नहीं बन सकता, बड़ी से बड़ी नदी की रचना में जो आकस्मिकता है वही आकस्मिकता छोटे २ कुए बनाने में क्यो चक्कर खा जाती है, बड़े से बडा पर्वत अकस्मात् ही बन सकता है, तो छोटी २ कुटियाए बनाने में मानव को प्रयत्न न करके आकस्मिकता के भरोसे ही बैठे रहना चाहिये तो आकस्मिक वादियों के मतानुसार शायद कुटिया स्वय बन जायगी।

इस प्रकार अकस्मात् वाद को स्वीकार कर लेने पर

तो पुरातत्ववेत्ताओं के सारे प्रयत्न भी निष्फल गिने जाएंगे, क्योंकि अनेक रूप से खोज करने के परिणाम में पृथ्वी में से निकलते हुए प्राचीन भवनादि को देखकर उनके ऐतिहासिक मनुष्यों की बुद्धि से सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। अकस्मात् परमाणुओं के संयोग से ही इन भवनों की रचना होना मान लिया जाएगा, इसका कारण यही है कि खुदाई के परिणाम में पृथ्वी के अन्दर से ऐसी भी कई वस्तुएं निकलती हैं कि जिनकी रचना हमें बहुत ही आश्चर्यकारी लगती है और ऐसी रचना वर्त्तमान काल में किसी से भी नहीं हो सकती, फिर भी ऐसी रचना को हम आकस्मिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार प्राणियों की शरीर की रचना में भी रचना करने वाले का ख्याल भले हमें न आए तो भी इतने से ही उस रचना में आकस्मिकता मानने की भूल नहीं की जानी चाहिये।

स्वभाव वादी

अब स्वभाववादियों के सिद्धान्त की मीमांसा करें। सर्व सिद्धान्त संग्रह में लिखा है कि:—

शिखिनश्चि त्रयेत् कोना, कोकिलान् क प्रवजयेत्।
स्वभाव व्यतिरेकेण, विद्यते नात्र कारणम्॥
(लोकायतिक पक्ष प्रकरण श्लोकम् ५)

अर्थात् —मोर के परों को कौन रंगता है, कोयल को मधुर स्वर कौन देता है, इसमें स्वभाव को छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं दीखता।

अथवा - अग्निरुष्णो जलं शीतं, समस्पर्शं तथानिलं।
केनेदं चित्रितं तस्मात्, स्वभावात्तद् व्यवस्थिति"॥
(सर्व दर्शन संग्रह—चार्वाक् 'दर्शन')

अर्थात् — आग गर्म होती है, जल ठंडा होता है, वायु न गर्म न ठंडी होती है, यह किसने बनाया! यह सब व्यवस्था स्वभाव से ही है।

"स्वभाव वादी कहते हैं कि सृष्टि के परमाणुओं में कोई अन्य शक्ति के द्वारा नहीं दिया गया, स्वयं अपना ही एक स्वभाव होता है, जिससे प्रेरित होकर वे परमाणु विशेष रीति से संयुक्त या वियुक्त होते रहते हैं। जैसे आग का स्वभाव जलाने का है, वायु का स्वभाव उड़ने का या किसी वस्तु को उड़ाने का है, इसलिए कर्ता के रूप में किसी चेतन प्राणी की उसमें आवश्यकता ही नहीं रहती"

एक आस्तिक विद्वान ने स्वभाववादियों के इस तर्क के खंडन में जो युक्तिपूर्ण उत्तर दिया है वह इस स्थान पर उपयोगी होने से उस युक्ति द्वारा ही हम स्वभाव वादियों की मान्यता पर विचार करें।

"यदि परमाणुओं में परस्पर संयुक्त होने का ही

स्वभाव है तो वे कभी भी वियुक्त नहीं होने चाहियें और सदा के लिए वे संयुक्त होकर ही रहें। यदि उनमें अलग अलग रहने का स्वभाव है तो कभी भी वे मिल नहीं सकते और इस प्रकार तो कोई भी वस्तु बन ही न सके, यदि उनमें से कुछ परमाणुओं का स्वभाव मिलने का हो और कुछ का अलग रहने का, तो जिस परमाणु की प्रबलता अथवा अधिकता हो, उसी के अनुकूल कार्य भी हो, अर्थात् यदि मिलने के स्वभाव वाले परमाणुओं का प्राबल्य हो तो उन परमाणुओं के संयोग से बनी हुई सृष्टि को वे कभी भी बिगड़ने न दें। और न इस संयोग से बनी हुई सृष्टि में वियोग होने का प्रश्न ही पैदा हो। इसी प्रकार यदि अलग अलग रहने वाले परमाणुओं का प्राबल्य होतो वे सृष्टि कभी होने ही न दें। दोनों प्रकार के परमाणु बराबर हों तो भी सृष्टि न बन सके, क्योंकि दोनों ओर से बराबर खींचतान होगी, जिस दोनों प्रकार के परमाणुओं के लिये एक दूसरे पर विजय प्राप्त करना कठिन हो जायगा।,,

स्वाभाववादी, सृष्टि रचनामें स्वभाविकता की सृष्टि में जो मोर के परों के रंग का, अथवा जलकी शीतलता का अथवा अग्नी की उष्णता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं वह भी व्यर्थ है, क्योंकि रंग की सुन्दरता,

शीतलता, और उष्णतारूपी गुण उन वस्तुओं में स्वाभाविक है यह बात बराबर है, परन्तु उन गुणों की प्रकटता परमाणु की संयुक्त अवस्था में है। संयुक्त अवस्था के पूर्व की स्वतन्त्र अवस्था में रहे हुए उन परमाणुओं में से एक भी परमाणु में उपरोक्त गुण नहीं हो सकते हैं। अत अमुक परमाणुओं के सयोग म ही अमुक वर्ण, गध, रस, और स्पर्शरूप गुण प्रकट होते हैं परन्तु उस संयोजन को स्वाभाविक रीति से होने वाला न मानने उसका कर्त्ता के रूप में किसी न किसी को अवश्य मानना ही पड़ेगा। यदि संयोजन में कर्त्ता के रूप में किसी का अस्तित्व न मानें बल्कि उसमें स्वाभाविकता का ही आरोपण करे तो मोर के शरीर की भांति मानव देह की रचना मे तथा प्रकार के रंग सुन्दरता रूप गुण प्रगट होने चाहिये। शायद कोई यह कह बैठे कि मनुष्य देह की रचना मे संयुक्त होने वाले परमाणुओं मे वैसा स्वभाव नहीं है, तो कहना पड़ेगा कि जिस सुन्दर रंग का प्रकटीकरण होने के स्वभाव वाले जो परमाणु मोर में संयुक्त हुए वैसे स्वभाव वाले परमाणु जगत के किसी भी प्राणी के शरीर में कभी भी संयुक्त क्यो न हुए? अतएव मानना पड़ेगा कि व्यवस्थित रूप से जिस जिस स्वभाव वाले परमाणु की रचना जहाँ जहाँ हो सके वहाँ वहाँ ही वैसी रचना की नियमितता होने के

कारण उसके कर्त्ता के रूप में किसी चेतन शक्ति की अवश्य मान्यता प्रदान करनी पडेगी। एटमबम अथवा अणुबममें जगत का नाश करने की जो शक्ति प्रकट हुई है वह शक्ति उसका स्वभाविक गुण है, परन्तु जिन वस्तुओं के मिश्रण से या प्रयोग से बम तैयार होते हैं उस मिश्रणता का प्रयोग, स्वाभाविक रीति से स्वतः नहीं होकर चेतनशक्ति वाले के ही प्रयत्न से होता है। इस प्रकार शरीर रचनारूप सृष्टि रचना में भी कर्त्ता के रूप में चेतन शक्तिवाले को अवश्य स्वीकार करना ही पडेगा।"

शरीर रचनारूप सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिरता और प्रलय तीनो भिन्न भिन्न और सयुक्त रूप से यह सिद्ध करते हैं कि उनका कारण कोई चेतना शक्ति है।

कुदरत वादी

कुछ लोगों का ऐसा कथन है कि सृष्टि रचना करने वाला कोई नहीं, परन्तु जो रचना होती है वह कुदरत (नेचर) से ही होती है। पहाडों का निर्माण कुदरत करती है, सूर्य कुदरत की देन है, बादल भी कुदरत का निर्माण है।

इस प्रकार सृष्टि रचना में 'कुदरत' शब्द का अर्थ कुछ भी समझमें नहीं आता। हिन्दी, संस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा में कोई ऐसा शब्द नहीं जो कुदरत का अर्थ

बताए। तथा कुदरत या नेचरवादियों का इस शब्द से क्या तात्पर्य है यह समझना कठिन है। यदि कुदरत या नेचर कोई बुद्धि तथा पराक्रम वाली सत्ता हो जोकि सृष्टि रचना करती हो, तब तो सृष्टि कर्त्ता के रूप में चेतन शक्ति को मानने वाले के मत में और कुदरत या नेचरवादियों के मत में केवल शब्द का ही भेद है। अब नाम मात्र के अन्तर पर झगड़ा उपस्थित करना वृथा है। परन्तु यदि कुदरत से उसका तात्पर्य "सृष्टि नियम" होतो सृष्टि नियम को "सृष्टि कर्त्ता" कहने में भयङ्कर भूल है। कारण यह है कि नियम को ही कर्त्ता मानने वाले को समझना चाहिये कि नियम स्वयं कोई काम नहीं करता, नियम स्वयं कुछ भी नहीं बनाता है, परन्तु नियमानुसार काम करके परिणाम उत्पन्न करना यह अन्य कर्त्ता का काम है। उदाहरणार्थ अमुक अमुक रसायनों के मिश्रण से अमुक प्रकार के रसायनवाली वस्तु तैयार हो जाती है, परन्तु उसमें नियम यह है कि वह वस्तु तैयार करने में अमुक अमुक रसायन हो और वह भी अमुक रीति से और परिमाण से मिश्रित किये जाएं तो ही वह वस्तु बन सकती है। इसमें जिस वस्तु का मिश्रण होता है और उसके परिमाण का जो नियम है उस नियम से अपने आपही उतने परिमाण में उन उन रसायनों का मिश्रण नहीं हो जाता है। उस नियम के

द्वारा उस रीति से मिश्रण करने वाला कोई व्यक्ति हो तो ही उस नियम के अनुसार वस्तु तैयार हो सकती है। अत इसमें उस वस्तु की रचना में रचयिता के रूप में (मि ण कर्ता) किसी भी मनुष्य को स्वीकार न करके मात्र नियम के ऊपर ही लक्ष्य रक्खा जाय तो वस्तु कदापि तैयार हो ही नही सकती। पहले यह समझना आवश्यक है कि कुदरत किसे कहते हैं ? यदि कुदरत किसी शक्ति विशेष या पुरुष विशेष का नाम नही तो वह क्या वस्तु है, और किस प्रकार सृष्टि रूपी कार्य का कारण बन सकती है ?

कुदरत या नेचरवादियों को पूछें कि भाई ! कुदरत है क्या चीज, तो उत्तर में कहते है "सृष्टि नियम"। उसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि रचना का कारण "सृष्टि नियम" है, और यदि पूछें कि "सृष्टि नियम" कहते किसे हैं, तो वह कहेंगे कि जो भी घटनायें एक ही प्रकार से हो सकती है, उसे नियम कहते है। आगे उन्हें और पूछें कि वह घटनायें एक ही प्रकार से होने का क्या कारण है, तो उलट फेर करके एक ही उत्तर प्राप्त होगा कि 'सृष्टि नियम'। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी युक्ति कोल्हू के बैल की भाँति एक ही घेरे में चक्कर काटती है। वस्तुत' कुदरतवादी कभी भी इस

बात का विचार नही करते कि उनका इस शब्द से तात्पर्य क्या है ? वे एक विचित्र भ्रम में रहना चाहते हैं। अत कुदरत या नेचरवादी मत के अनुसार सृष्टि रचना की बात कदापि सत्य रूप से समझमें नही आ सकती।

ईश्वरवादी

सभी आस्तिक दर्शनकार सृष्टि रचना में कर्त्ता क रूप में किसी चेतन शक्ति वाले को ही स्वीकार करते हैं, फिर भी कुछ वर्ग ऐसा है जो यह मानता है कि चेतन शक्ति वाली प्रत्येक आत्मा कर्त्ता नहीं है, परन्तु कर्त्ता तो 'ईश्वर ही है।

ओ ईश्वर तू एक छे, सरज्यो ते ससार।
पृथ्वी, पाणी–पर्वतो, तें कीधा तैयार ॥

इस ईश्वर कर्तृत्ववाद के सम्बन्ध म अब सोचें।

सृष्टि कर्त्ता के रूप म ईश्वर कर्तृत्व की मान्यता को अगीकार करने वाला, सृष्टि को परपरा से अनादि अनन्त नहीं मानता बल्कि समग्र सृष्टि के उत्पादन और प्रलय मे विश्वास रखता है। इतना होते हुए भी उनकी एक मान्यता तो सुदृढ है कि आत्मा को किसी ने पैदा नहीं किया और न कोई इसका नाश ही कर सकता है। अब जीव को अनादि कहना और समग्र जगत को कृत्रिम कहना अर्थात् एक समय सृष्टि जैसी वस्तु ही नहीं थी,

परन्तु अमुक समय में ही उस सृष्टि रचना का आरम्भ होना कहने के बराबर है। इस प्रकार समय सृष्टि के आरम्भ का स्वीकार और आत्मा के अनादिपन का स्वीकार दोनों विरोध पूर्ण मान्यताएं हैं, जिनमें किसी समझदार व्यक्ति को आस्था नहीं होगी। क्योंकि जीव अनादि हो तो जगत का आरंभ नहीं हो सकता और जगत आरंभिक हो तो जीव अनादि नहीं हो सकता। जीव को अनादि कहना और साथ ही यह भी कहना कि जगत को ईश्वर ने बनाया तो स्वाभाविक रूप से शंका उत्पन्न हो जाती है कि ईश्वर ने जगत रचना या सृष्टि उत्पादन किया उसके पहले यह अनादि जीव कहाँ था, कैसी स्थिति में था, उस समय जीव क्या कर्म बिना था या जन्म विहीन था? यदि यह मान लें कि जीव तब कर्म और जन्म सहित था, तब तो यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा के जन्म और कर्म से उपस्थित होने वाली दशा ही सृष्टि है, और जब सृष्टि पहले ही थी तब नवीन सृष्टि रचना हुई यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति होने से पूर्व के जीव को जन्म और कर्म विहीन कहा जाए तो यह कहना पड़ता है कि सृष्टि रचना करके ईश्वर ने आत्मा में जन्म मरण की नवीन आफत लगा दी। ऐसे जंजाल में आत्मा को डाल

कर अनादि काल की उसकी स्वतन्त्रता से उसे वंचित करके, जन्म मरण के बन्धन में डालने का प्रयत्न ईश्वर को क्यों करना पड़ा? आत्मा की स्वतन्त्रता छीन कर बंधन में डालने वाले ईश्वर के प्रति आत्मा की ओर से पूज्य भाव नहीं हो सकता। अतः जगत रचना करके अनादि आत्मा को, कर्म और जन्म के जञ्जाल में घसीटने की ईश्वर की बात तत्त्वज्ञ पुरुषों की बुद्धि में उतरने जैसा नहीं है।

अब ईश्वर कर्तृत्व के संबंध में एक अन्य बात और सोचें। इतना तो निःसंदेह है कि प्रत्येक कार्य के लिये कारण होना चाहिये। कणाद मुनि का कथन है कि "कारणाभावात् कार्य्याभावः"। अर्थात्—कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। यह बात प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी अंश में मानता ही है। फिर कारण भी एक नहीं किन्तु तीन। एक घड़े के आधार पर-उसका "उपादान या परिणाम कारण" मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी का परिवर्तित रूप ही घड़ा है। इसी प्रकार घड़े का "निमित्त कारण" दंड चक्र आदि है, क्योंकि इस निमित्त के बिना घड़े को बनाना असंभव है और घड़े का "निर्वर्तक कारण" कुम्भार है। इस प्रकार घड़े के अनुसार प्रत्येक कार्य में (१) परिणामी कारण,

या उपादान कारण (२) निमित्त कारण (३) निर्वर्तक कारण ऐसे तीन कारण अवश्य होने चाहिये। सृष्टि रचना रूपी कार्य में निर्वर्तक कारण में ईश्वर को मान्यता देने वाले को साथ ही यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि सृष्टि रचना के कार्य में "उपादान या परिणामी कारण" और "निमित्त कारण" क्या हैं। इन दोनों कारणों को उड़ाकर मात्र निर्वर्तक कारण से ही यह कार्य कैसे सभव हो सकता है ? सृष्टि रचना को तर्क से अथवा अन्य किसी रीति से सिद्ध न कर सकने के कारण उसमें ईश्वर कर्तृत्व उपस्थित करना सगत नहीं है।

ईश्वर कौन है ? जगत की अन्य आत्माओं की अपेक्षा उस ईश्वर रूप आत्मा में अधिक शक्ति क्यों, उसने सृष्टि रचना का प्रारम्भ करके अनादि आत्मा को देह युक्त बनाकर, जन्म मरण--गर्भावास आदि की उपाधि में क्यों डाला, इन सभी तर्कों का समाधान ईश्वरवादी जनता की ओर से सतोष जनक नहीं होता है।

जैन दर्शन में ईश्वर विषयक मान्यता -

आरम्भ में कहा जा चुका है कि दृश्यमान होने वाली प्रत्येक वस्तु मूलत किसी भी प्राणी के शरीर के रूप में ही होती है, अत सृष्टि रचना समझने के लिये शरीर रचना को समझना अनिवार्य है। अपनी २ शरीर

रचना रूप सृष्टि रचना प्रत्येक जीव स्वयं ही करता है ऐसी मान्यता सिर्फ जैन दर्शन की ही है। जैन दर्शन ईश्वर कर्तृत्व को मान्यता नहीं देता है, परन्तु इससे कहीं हम यह गलत धारणा न बना लें कि जैन दर्शन ईश्वर को मानता ही नहीं।

जैन पृथ्वी,पानी,पहाड,हवा तथा प्रकाश के आविर्भाव से परमेश्वर की महत्ता को नहीं मानते हैं, परन्तु जैन धर्म में परमेश्वर की जो महत्ता मानी गई है वह सिर्फ आत्मा के स्वरूप को सत्य रूप में बताकर, आत्मा के असाधारण गुणों को असाधारण रीति से रोकने वाले कर्मों के आगमन और बंधन का मार्ग समझा कर, उन कर्मों के दुष्परिणामों की भयंकरता का सत्स्वरूप बताकर, उन कर्मों को रोकने और तोडने के साधन बताकर सर्वथा और सर्वदा के लिये आत्मा के शुद्ध स्वरूप में आत्मा को रहने की बात समझाने वाले होने से ही, जैनों ने परमेश्वर की महत्ता स्वीकार की है। जैनों को ईश्वर की सत्ता और पूजा व उपासना तो अवश्य मंजूर है, परन्तु उस पूजनीय और उपासनीय ईश्वर के सम्बन्ध में जैनों की मान्यता, जैनेतरों की मान्यता से भिन्न पद्धति की है।

ईश्वर की सत्ता क्यों माने ?

सर्व प्रथम यह बात ध्यान मे लेने की है कि जितनी चराचर वस्तुएँ हमारे इस स्थूल चर्म चक्षु मे दखने में आती है, उतनी ही इस सृष्टि दुनिया या ससार की मर्यादा नहीं है। परन्तु जिसका दर्शन न तो हम अपनी इन स्थूल इन्द्रियों के द्वारा कर सकते है और न जिसका अनुमान हम अपनी स्थूल बुद्धि से लगा सकते हैं, ऐसी एक महान् अतिमहान और अति गहन आतरिक सृष्टि भी इस बाह्य रूप में दिखाई पडने वाली स्थूल सृष्टि के पीछे खड़ी है। अपनी स्थूल इन्द्रियो और स्थूल ज्ञान से भिन्न और बहुत ही महत्वपूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही इस आतरिक सृष्टि को हम देख सकते हैं। ऐसे महान् ज्ञान की जिसे प्राप्ति हो गई है ईश्वर ! जो मनुष्य अपनी आत्म शक्ति को यहाँ तक विकसित करले उसे ही ईश्वर समझा जाय।

ईश्वर की उपसना क्यों ?

इस अतीन्द्रिय ज्ञान केवल- ज्ञान के द्वारा जब ये समग्र ससार के सारे तत्वों की यथास्थिति को जान लेते हैं तब ये हम जैसे पामर जीवों के उपकार के लिये ये वस्तुएँ हमें समझाते है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव-

संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि तत्वों का ज्ञान किसी सामान्य मानव बुद्धि का फल नहीं है, परन्तु यह परम ज्ञानवान अतीन्द्रिय ज्ञानवान परमात्मा के द्वारा जानी गई वस्तुओं की हमें देन है। जगत के आंतरिक तत्वों का हमें दर्शन कर वाया इसीलिये, और साथ साथ ईश्वर उपासना के फलस्वरूप हम भी ईश्वर समान हो सकते हैं, इसीलिये ईश्वर की पूजा उपासना नितान्त आवश्यक है। इस तरह मनुष्य मात्र मानवरूद के द्वारा ही ईश्वरीय आत्म सिद्धि की सफलता मानने में ही जैन दर्शनकारों की निष्ठिता है और इस सिद्धि का साधन ईश्वर उपासना ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर की मान्यता जैन दर्शन को स्वीकार नहीं है।

शरीर रचना के विषय में जैन दर्शन का मान्यता

जैन दर्शन तो कहता है कि प्रत्येक जीव अपने शरीर की रचना स्वयं करता है। वह कैसे करता है और किन वस्तु में से करता है, किसकी सहायता से करता है, यह सब बातें जैन दर्शन में बताए गये कर्मवाद के स्वरूप का अतिसूक्ष्म रीति से ज्ञान संपादन करने वाले ही स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। जैन दर्शन का तो कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य गृहीत भोजन उसके शरीर में प्रविष्ट

होकर रक्त आदिक रूप म परिणत होता है, और इस प्रकार परिणत भोजन मानव देह का पोषक माना जाता है, उसी प्रकार लोकाकाश में रहे हुए कार्माण वर्गणा के पुद्गल जो सूक्ष्म होने से चर्म चक्षुओं के द्वारा देखे नहीं जा सकते व आत्मा के साथ अग्नी लोहवत् सयुक्त होकर कर्मरूप में परिणमन को प्राप्त करते है।

भिन्न भिन्न स्वरूप में परिणमन प्राप्त उन पुद्गलो में यथा योग्य भिन्न भिन्न स्वभाव उत्पन्न होते है। उन स्वभावों को लक्ष्य में रखकर उन्हे पृथक रीति से पहिचाना जा सके, समझ सके, उस ढग से उनकी पृथक पृथक सज्ञाए जैन दर्शन में बताई गई है। जिस प्रकार ये कर्मरूप में परिणत होने वाले कार्मण वर्गणा के पुदगल लोकाकाश मे व्याप्त है, उसी प्रकार शरीर आदि की रचना म उपयोगी हों अर्थात् जिनसे जीवो के शरीर आदि का निर्माण हो सके ऐसी पुद्गल वर्गणाए भी लोकाकाश में व्याप्त है। पूर्व कथित कार्मण वर्गणा के जो पुदगल आत्मा के साथ कर्मरूप में सलग्न हुए हैं, उनमें से अमुक पुदगलों द्वारा जीव शरीर रचना के योग्य पुदगलों को खींचकर उनका विविध रूप म परिणमन करके जीव अपने शरीर की रचना स्वय करता है।

कर्म प्रकृतियों का वर्गीकरण

कर्म का विपाकोदय जिस हेतु को प्राप्त करके होता है, उस विपाक का हेतु बताने की दृष्टि से कर्म प्रकृतियों का वर्गीकरण चार विभागों में किया है। वे चार भेद निम्न लिखित हैं —

१- जीव विपाकी। २- पुद्गल विपाकी ३- क्षेत्र विपाकी ४- भव विपाकी। इस चार प्रकार के वर्गीकरण में विशेष प्रकार की मुख्यता ही कारण भूत है। यद्यपि कर्म प्रकृतियों के विपाक का अनुभव जीव ही करता है, इस दृष्टि से सारी प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं, परन्तु कई कर्म प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो जीव पर सीधा प्रभाव नहीं डालती, परन्तु शरीर के लिये उपयोगी जड़ सामग्री आत्मा से जुटवा कर, कई प्रकृतियाँ किसी विशेष स्थान को ही प्राप्त कर, और कई तो प्राणियों की विशेष प्रकार की जाति में ही जीव को फलदायी सिद्ध होती हैं और जो कर्म क्षेत्र की, भव की या बाह्य जड़ सामग्री की उपेक्षा करके स्वयं आत्मा की अनन्त ज्ञानादि शक्ति को छिपाने का ही कार्य करती है उसे 'जीव विपाकी' कहते हैं। इस प्रकार चार विभागों में वर्गीकरण की हुई कर्म प्रकृतियों में से हम तो यहाँ पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियों के विषय में ही समझना आवश्यक है, क्यों कि प्राणियों

की शरीर रचना में निमित्त कारण ये ही (पुद्गल विपाकी) कर्म प्रकृतियाँ हैं।

पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतिया

पुदगल विपाकी कर्म प्रकृतियों के विपाक का सबध पुदगल वर्गणाओं से बने हुए शरीर के साथ मुख्य है। पुदगल विपाकी कर्म प्रकृतियाँ, ससारी जीवों को शरीर, श्वासोश्वास, भाषा और मन इन चारों के अनुकूल पुदगल की प्राप्ति करवा कर, साथ साथ वर्ण, गध, रस, स्पर्श, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, अगोपाग, पराघात, उपघात, अगुरुलघु, उद्योत, सघात आदि स्वरूप में परिणाम प्राप्त करवाते हैं।

ससारी जीवों का शरीर किस प्रकार और किससे बनता है, शरीर के अवयवों की योग्य स्थल में रचना और शरीर आकार आदि भिन्न भिन्न जाति के जीवों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से कैसे होते हैं, इन सब का वास्तविक ज्ञान, पुदगल विपाकी कर्म प्रकृतियो के समझने से ही हो सकता है पुदगल विपाकी कर्म प्रकृतियों का स्वरूप नहीं समझने वाले प्राणियों की शरीर रचना विषयक ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ ही रहते है। अत पुदगल विपाकी कर्म प्रकृतियो का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है।

पुद्गल और उसका परिणमन

पुद्गल क्या वस्तु है यह समझ में आये तभी पुद्गल विपाकी प्रकृति का स्वरूप भी समझ में आ सकता है। पुद्गल के स्वरूप को नहीं समझने वाले तो यही समझते हैं कि "इस जगत में साकार वस्तुएँ ईश्वरने बनाई हैं।" पुद्गल और पुद्गल परिणाम के प्रकारों को नहीं समझने तथा नहीं मानने वाले को, ईश्वर को बीच में घसीटना पड़ता है। जैन दर्शन में तो पुद्गलों का पूर्ण एवं विशद वर्णन मिलता है जिसके प्रमाण में पन्नवणा सूत्र, लोक प्रकाश और तत्वार्थ सूत्र ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैन दर्शन कहता है कि जीव और पुद्गल इन दोनों के सयोग से ही सारा संसार चक्र चल रहा है।

पुद्गल सदा के लिये एक ही रूप में नहीं रहता है। इसमें परिवर्तन का स्वभाव ही है। सड़न और गलन, बढ़ना और घटना यह स्वभाव जगत के किसी द्रव्य में यदि है तो मात्र पुद्गल द्रव्य में ही है। एक रंग से दूसरे रंग में बदलना, सुगंधमय से दुर्गन्धमय होना, ऐसे ही एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में परिणित होना पुद्गल का स्वभाव है। स्वरूप परिवर्तन को परिणमन कहते हैं। जैसे सयोग और जैसे कारण मिलते हैं वैसे ही रूप में परिणमन होता है।

पुद्गल का परिणमन तीन प्रकार से होता है —

१- स्वभाव से २- जीव के प्रयोग से ३- स्वभाव तथा प्रयोग दोनों से। ये तीनों परिणमन क्रमश: १-विस्रसा २- प्रयोग और ३- मिश्र परिणमन कहलाते हैं।

आकाश में दिखाई देने वाले भिन्न भिन्न रंग, इन्द्र धनुष आदि, पुद्गलों का विस्रसा परिणमन होता है। केलू आदि स्वत पुराने होते हैं। पदार्थ स्वत रस विहीन तथा सड़े गले हो जाते हैं। उन्ह इस दशा में कोई बदलता नहीं है। पुद्गलों की विविध वर्गणाएं भी इसी प्रकार बनती हैं। पुद्गलों में अनेक शक्तियाँ हैं, उन सब का परिणमन किसी भी जीव के प्रयत्न बिना स्वाभाविक रीति से होता रहता है, और वह "विस्रसा परिणमन" कहलाता है।

जीव अपनी शक्ति की मुख्यता से पुद्गलों का अपने शरीर रूप में जो परिणमन करते है वह 'प्रयोग परिणमन' कहलाता है। उपरोक्त इन्द्र धनुषादि को छोड़कर अन्य सभी दृश्य पदार्थों के पुद्गल "प्रयोग परिणत" हैं। जो जो पदार्थ हम लेते है, तथा आँखों से देखते है उन सबका परिणमन जीव के द्वारा किया हुआ है। जगत् में दिखाई देने वाले "पुद्गल परिणाम' ससारी जीव कृत हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु वनस्पति आदि के पिंडों का परिणमन तत्सम्बधी काया के जीवों क द्वारा हुआ है।

इन पुदगलों में से कई तो जीव के सबध युक्त है, और कई तो जीवोंने छोड़दिये है। छोडे हुए शरीरों में से उसी रूप में नहीं दिखाई देकर अन्य रूप में दिखाई देने वाले पदार्थ भी अन्योन्य परिणमन या जीवों के शरीरो के रूपान्तर हैं। पुदगल के बिना व्यवहार नहीं होता। पुदगल के बिना देहधारी जीव का काम चल नहीं सकता। अत जीव के निमित्त को लेकर पुदगलो का जो परिणमन होता है वह "प्रयोग परिणमन" कहलाता है। शरीर, भाषा, मन और श्वासो श्वास में जीव ने जिन पुदगलों का परिणमन किया हो व 'प्रयोग परिणमन' कहलाते है।

प्रयोग परिणमन के आधार पर जीव जिन पुदगलो का परिणमन करता है वह पाच प्रकार का है —

१- एकेन्द्रिय प्रयोग परिणमन २- बेइन्द्रिय प्रयोग परिणमन ३ तइन्द्रिय प्रयोग परिणमन ४ चउरिन्द्रिय प्रयोग परिणमन ५- पचेन्द्रिय प्रयोग परिणमन। इस प्रकार प्रयोग परिणमन के पाच भद हैं।

जीव जो पुदगल को प्रयोग द्वारा शरीर स्वरूप में परिणमाते है वह पुदगल, विस्त्रसा परिणमन से परिणत वर्गणाओं के ही है। अर्थात् शरीर परिणमन में प्रयोग के साथ विस्त्रसा परिणमन भी है। इसलिये शरीर रूप में होन वाले उस परिणमन को 'मिश्र परिणमन, कह

थाज का विज्ञान, सूर्य के सामने आग के छोटे से टुकड़े के समान भी नहीं है। पुद्गल के मिश्र परिणमन करने में आज के वैज्ञानिक प्रयोग में मात्र ९८ तत्वों का ही उपयोग और ज्ञान है, जबकि ज्ञानियों की दृष्टि में अनन्त तत्व और अनन्त परिणामान्तर हैं।

प्रयोग परिणमन पुद्गलों के आधार पर मिश्र परिणमन होता है परन्तु प्रयोग परिणमन और स्वाभाविक पुद्गल परिणमन कैसे होता है, इसका ज्ञान आज के वैज्ञानिकों को भी लेश मात्र नहीं है। यह तो सर्वज्ञ भगवान कथित जैन आगमों में से ही जाना और समझा जा सकता है। प्रयोग परिणमन के पहिले पुद्गल की क्या स्थिति थी, प्रयोग परिणत पुद्गल कहाँ से आए, कहाँ रहे हुए हैं, कैसे रहे हैं, प्रयोग परिणमन करने के लिये कौन लाता है कैसे लाता है? यह सब जैन दर्शन के आगमों से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है और यह सब समझ के ही जैन तत्व को वास्तविक रूप में समझ सकता है।

जन्म की उत्पत्ति के समय देह बहुत ही छोटी होती है, फिर वह बढ़ती है। बाल्यावस्था की अपेक्षा युवावस्था में शक्ति पुनः घट जाती है। यह सब पुद्गल का परिणमन है। यह विज्ञान विज्ञान की प्रतिपादन करता हुआ घोषणा

करता है कि — 'शरीर के सारे पुदगल मात वर्षों में बदल जाते है। अर्थात् शरीर में नए पुदगल आते हैं और पुरान बाहर निकलते रहते हैं, ऐसा क्रम चलता रहता है। आज के इस वैज्ञानिक दृष्टि कोण से भी यह सिद्ध होता है कि शरीर में आने वाली और शरीर से बाहर जाने वाली पुदगल नाम की कोई वस्तु भी इस जगत में है। शरीर में प्रवेश करके आकार में एक रूप हुए पुदगलों को हम प्रत्यक्ष देखते हैं परन्तु ये पुदगल कहाँ से आए और शरीर से अलग होने वाले पुदगल कहाँ गये, यह हम नहीं देख सकते हैं। यद्यपि शरीर निर्माण में उपयोगी, पुदगल नाम का द्रव्य इस जगत में है जरूर, यह माने बिना नहीं चलता है। संसारी जीवों के शरीर रूप में परिणत होने वाले इन पुदगलों को परिणमन से बिखरे हुए और परिणमन के पूर्व की इनकी अवस्था को हम अपने चर्म चक्षु से देख नहीं सकते हैं, परिणमन होकर आकार रूप में प्रकट होने पर ही उन्हें देखा जा सकता है। सांसारिक जीवों की शारीरिक विचित्रता पुदगल परिणमन के आधार पर ही है अर्थात् संसारी जीवों का शरीर पुदगलों का बना हुआ है।

जीव बोलता है तथा मनन, चिन्तन करता है, यह भाषा और मन भी पुदगलों का ही परिणमन है, इस बात

की पुष्टि आज का विज्ञान भी करता है। नैयायिक, शब्द को पदार्थ न मान कर, आकाश का गुण मानते थे, वह बात आज के विज्ञान की खोज के अनुसार भी सर्वथा असत्य सिद्ध हो रही है। ग्रामोफोन रेडियो, टेलीफोन आदि के आविष्कार, शब्द को पुद्गल के रूप में स्वतः सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार 'फाटोग्राफ' नाम के एक यंत्र से मनुष्य के विचारों का भी फोटो लिया जा सकता है, उसका फोटो लेने की रीति भी नवीन और अद्भुत है। काले कागज में फिल्म भर कर उसे एक पीले लिफाफे में रख कर मनुष्य की आँखों के सामने दो मिनट तक लटकाया जाता है। इस प्रकार स्वप्न निर्देशक यंत्र की सहायता से मनुष्य के स्वप्न काल के हृदय के भाव, दुःख-हर्ष शोक विषाद क्रोध आदि का भी एक चित्र उस यंत्र में बनता है।

उपरोक्त दोनों यंत्रों से मनुष्य के मानसिक विचारों का पता लगाया जा सकता है। विचारों का चित्र यंत्र में बनता है इससे यह सरलता पूर्वक समझ में आता है कि 'विचार' भी पुद्गल का परिणमन है। श्वासोश्वास को भी पुद्गल के रूप में प्रतीति दर्पण पर श्वासोश्वास छोड़कर की जा सकती है।

"शरीर के पुद्गलों को परिणमन होने के पश्चात्

शरीर के रूप में धारण किया जाता है। अतएव परिणत शरीर के पुद्गलों को हम देख सकते हैं। दूसरी ओर मन, भाषा तथा श्वासोच्छ्वास के पुद्गल जीव ग्रहण करता है, परिणमन करता है परन्तु वे धारण रूप में नहीं आते अर्थात् उनका विसर्जन होता है। वहाँ पुद्गल स्थाई नहीं होने से चर्म चक्षु से दिखाई नहीं देते हैं। तब भी यह अति स्पष्ट रूप से समझमें आता है कि शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास ये सब पुद्गल हैं। विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी तक तो यह 'पुद्गलवाद" मात्र सिद्धान्त रूप ही था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह मात्र श्रद्धा का ही विषय था। परन्तु आज तो यह सिद्धान्त जगत के सामने, विज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष आकर खड़ा है और पुद्गल परिणमन के आधार पर ही आज के विज्ञान ने अनेक आविष्कार किये हैं। पुद्गल परिणमन अनेक प्रकार का है। आत्म विकास के अनुरूप पुद्गल परिणमन के आविष्कारों को ही ज्ञानियों ने तो उपयोगी बताए हैं।

भौतिकवाद के पोषक एवं आत्म विकास के अवरोधक आविष्कार ज्ञानियों की दृष्टि में तो मानवता का घात करने वाले ठहरते हैं।

आधुनिक विज्ञान ने ऐसे ऐसे आविष्कार किये हैं जो,

साधारण जनता को चमत्कार अथवा जादू लग रहे हैं। कई लोग तो ऐसे आविष्कारों से ही जगत का कल्याण और अहोभाग्य मानने लगे हैं और उनके आविष्कर्ता बुद्धि की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि वर्तमान विज्ञान की प्रक्रिया पुद्गल परिणमन सम्बन्धी है। ज्ञानियों के लिए तो प्रत्येक प्रकार का पुद्गल परिणमन, अञ्जली में पड़े हुए पानी की तरह प्रत्यक्ष है, परन्तु आज के भौतिकवादियों की दृष्टि में सुस्वरूप मान्य पुद्गल परिणमन के प्रयोगों में, ज्ञानियों की दृष्टि में, लेश मात्र भी सुख की भाँकी नहीं है।

जिनेश्वरदेवों ने परमाणु, अणु, प्रदेश, संघात, विघात रूप, रस, गंध, स्पर्श पर्याय, कर्मवर्गणा, अन्य वर्गणा, शब्द प्रकाश छाया, अन्धकार इत्यादि अनेक प्रकार से परिणाम को प्राप्त किये हुए, जड़ पुद्गल का स्वरूप स्पष्ट किया है। प्रत्येक पुद्गल परमाणु, रंग, रस, गंध और स्पर्शवाला है और उसके वे गुण बदलते भी हैं ऐसा बताकर भी ज्ञानियों का यही ध्येय होता है कि पुद्गल परमाणुओं के सहकार से दिव्य श्रोत्र, दिव्य दर्शन और श्रुतज्ञान शक्ति को प्राप्त कर, प्रत्येक आत्मा अपने गुणों के विकास में ही परिणमन करे। इसी दृष्टिकोण से पुद्गल परिणमन का स्वरूप समझना

आवश्यक है। जिस पुद्गल परिणमन व संयोग से आत्मा संसार में भूली भटकी, अनंत दुःख सहन किए, स्वभाव से वंचित रही इसमें कौनसा पुद्गल परिणमन कारण भूत है? उस प्रकार परिणमन प्राप्त की हुई पुद्गल वर्गणा आत्मा के संसर्ग में कैसे आई उसे आत्मा से दूर कैसे करना? इन सब का लक्ष्य पैदा करने के लिए पुद्गल परिणमन का स्वरूप ज्ञानियों ने बताया है।

कर्म क्या है?

कर्म रूप में परिणत आठों कर्म की प्रकृतियाँ कार्माण वर्गणा के पुद्गलों के परिणमन के फल स्वरूप हैं। कार्माण वर्गणा चौदह राजलोक में ठसाठस व्याप्त हैं। उन कार्माण वर्गणा के पुद्गलों में ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ नहीं हैं। परन्तु जीव उन कार्माण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और फिर ज्ञानावरणादि पाप, पुण्य के रूप में परिणत करता है। जैसे भोजन में रस, रुधिर, मांस, मज्जा, आदि नहीं है परन्तु खाए हुए भोजन का शरीर में रस रक्त मांस, मज्जा, हड्डियां वीर्य तथा मल के रूप में परिणमन होता है। वैसे ही कार्माण वर्गणा के पुद्गलों का परिणमन, आत्मा में कर्म प्रकृति रूप में होता है। आत्मा से ग्रहण किया हुआ कार्माण

वर्गणा के पुद्गल का, आर्त्त रौद्र ध्यान से पाप के रूप में और धर्म शुक्ल ध्यान से पुण्य के रूप में परिणमन होता है।

आत्मा के प्रदेश के साथ अपने आप चिपकने का स्वभाव कार्माण वर्गणा के पुद्गलों में नहीं है। कार्माण वर्गणा १४ राज लोक में हैं। जहाँ सिद्ध जीव हैं वहाँ भी यह व्याप्त हैं। परन्तु सिद्ध जीवों पर आक्रमण करने की उसमें शक्ति नहीं है। जिस आत्मा में पुद्गल लगे हुए हैं, अर्थात् ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय अन्तरायादि रूप में कार्माण वर्गणा के पुद्गल परिणमन में जो आत्मा लिप्त है उसीसे कार्माण वर्गणा के पुद्गल चिपकते हैं, प्रथमतः परिणमन प्राप्त किये हुए कर्म पुद्गलों के द्वारा ही आत्मा, नवीन पुद्गलों को खींचती है और उसके बाद उनमें रस पैदा करती है। शुभ अशुभ रूप में तथा लघु गुरु स्थिति में परिणमन होने में आत्मा का कषाय भाव ही कारण भूत होता है। आत्मा का यह सारा (कर्म रूप में परिणमन करने का) प्रयत्न अनाभोग दशा में होता है परन्तु यह सारा परिणमन जीव के प्रयोग से ही होता है।

कार्माण वर्गणा के जिन पुद्गलों का आत्मा में पाप रूप परिणमन हुआ है उनमें अशुभ परिणाम से रस

में भी परिणत कि जा सकता है। जैसे सोमल, यह विष है, तो भी अमुक प्रकार के प्रयोग, से निष्णात वैद्य उसको औषधि के रूप में भी बना देते हैं। नारियल का पानी अमृत तुल्य होता है, परन्तु उसी में यदि कपूर मिला दिया जाय तो वह विष बन जाता है। उसी प्रकार पाप तथा पुण्य के पुद्गलों का भी परिवर्तन हो सकता है। शाता वेदनीय अशाता में परिणत हो जाता है, और उच्चगोत्र कर्म, नीच गोत्र कर्म भी बन जाता है। यह सब तभी समझमें आ सकता है, जबकि हम पुद्गल परिणमन को वास्तविक रूप में समझ पाएँ। परन्तु मात्र भौतिक सामग्री की अनुरागी आत्मा की समझमें पुद्गल परिणमन का ऐसा स्वरूप कैसे बैठ सकता है ? अतः श्री जिनेश्वरदेव द्वारा प्रणीत नव तत्त्व रूप आविष्कारों को समझने वाली आत्मा को आज के भौतिकवादी आविष्कार लेशमात्र भी आश्चर्य में नहीं डाल सकते हैं।

*** चौदह राजलोक में रही हुई विविध पुद्गल वर्गणाएँ ***

पुद्गलास्ति काय एक जाति है। परमाणु से लगाकर अचित महास्कंध तक पुद्गल की जातियाँ हैं। ये वर्गणा स्वभाव से बनी हुई हैं। ये सब पुद्गल वर्गणाएँ १४ राजलोक के आकाश प्रदेश में व्याप्त हैं और इनके १६ प्रकार हैं। उनमें से औदारिक, वैक्रिय,

श्वासोश्वास, भाषा, मन और कार्मण ये आठ प्रकार की की कार्मण वर्गणा संसारी जीव ग्रहण करते हैं।

शरीर बनाने में उपयोगी वर्गणाएँ

प्रथम चार नाम वाली और अन्तिम कार्मण वर्गणा ये पाँचों, शरीर बनाने में जीव के लिये उपयोगी होती हैं। इन वर्गणाओं का स्वरूप इस ग्रन्थ कम्मपयडी पंच संग्रह आदि ग्रन्थों में से समझना बहुत जरूरी है उनमें नाम कर्म की प्रकृतियों में पांच शरीरों का उल्लेख है। उनमें प्रत्येक प्रकार की शरीर रचना में तदनुरूप नाम की पुद्गल वर्गणाएँ ही काम में आती हैं। उदाहरणार्थ औदारिक शरीर की रचना में औदारिक वर्गणा के पुद्गल ही उपयोग में आते हैं। संसारी जीवों में तिर्यंच नर का औदारिक शरीर होता है उस मनुष्य और तिर्यंच की जाति के सभी जीव अपना शरीर बनाने में औदारिक वर्गणा के ही पुद्गलों को ग्रहण करने वाले होते हुए भी एकेन्द्रिय नाम कर्म के उदय वाले जीव जिन पुद्गलों को ग्रहण करते हैं उन सबको एकेन्द्रिय रूप में ही परिणत करते हैं। इसी प्रकार पंचेंद्रिय पर्यन्त समझो। यहाँ पुद्गल का परिणमन जीव के प्रयत्न से होते हुए भी उन पुद्गलों का कितनी इन्द्रियों में परिणमन करना

इसमें जीव की स्वतंत्रता नहीं है। जिस जिस जाति के नाम कर्म का उदय है, उस उस जाति के योग्य इंद्रियों में, उन पुद्गलों का परिणमन जीव करता है। संसारी जीवन यापन करने के लिये शरीर श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन चारों प्रकार की वर्गणा के पुद्गल ग्रहण की, और उनके विविध परिणमन की आवश्यकता रहती है। इनमें से एकेंद्रिय जीव को भाषा तथा मन वर्गणा के पुद्गलों की, और वेइन्द्रिय से असंज्ञि पंचेन्द्रिय तक जीवों को मन वर्गणा के पुद्गल ग्रहण की अथवा परिणमन की आवश्यकता नहीं रहती है। उस प्रकार के पुद्गलों का परिणमन जीव के व्यापार से शरीरादि रूप में होता है और शरीर रचना होती है, तब भी उसका सारा उद्यम कर्माधीन होने से, जैसे नाम कर्म का उदय हो वैसा ही शरीर जीव से बन सकता है और बनाया जा सकता है। अर्थात् नाम कर्म की आधीनता में रहकर तथाविधि प्रयत्न पूर्वक गृहीत पुद्गल वर्गणा का परिणमन, जीव स्वप्रयत्न पूर्वक करता है।

हमें तो यहां विशेषकर यही समझना है कि पुद्गल के प्रयोग परिणामों में जीव ही निमित्त है और जीव निमित्त होते हुए भी प्रयोग परिणामों में जो भिन्नता रहती है वह कर्म के ही कारण होती है। कर्मों के बिना

शरीरादि के योग्य पुद्गल, वर्गणा को ग्रहण करने तथा उसका प्रधान परिणाम प्राप्त करने का जीव को अधिकार नहीं होता है। यानि पुद्गलों में रही हुई स्वाभाविक शक्तियों के प्रयोग परिणाम को जीव, कर्म की सहायता से ही प्राप्त कर सकता है। अब हमें यह सोचना है कि शरीरादि के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उन पुद्गलों का परिणमन विविध प्रकार से यह जीव किस प्रणाली से और किस कर्म के आधीन रह कर करता है।

शरीर के योग्य पुद्गल को ग्रहण और परिणमन करवाने वाली प्रकृतियाँ ही 'पुद्गल विपाकी' हैं। सभी पुद्गल विपाकियों के पुद्गल विपाकीपन में यह मूल तत्व है, यह बात ध्यान में रक्खें तो कर्मों के विपाक का अर्थ ठीक ढंग से समझ में आ सकता है।

१ शरीर योग्य पुद्गलों की ग्रहणता और परिणमता
कराने वाली

कर्म प्रकृतियाँ

प्रत्येक ससारी जीव को प्रत्येक भव में ससारी के रूप में जीवन बिताने के लिए शरीर धारण करना ही पड़ता है। एक भव का आयुष्य पूरा होने पर, उस भव का शरीर वहीं पड़ा रहता है और आत्मा वहाँ से निकलकर, अन्य स्थान में जन्म लेकर, नवीन शरीर रचना का कार्य करती है।

नवीन शरीर की रचना के लिये उस शरीर के अनुकूल पुदगलों को ग्रहण तथा परिणमन करना पड़ता है। शरीर के योग्य पुदगल वर्गणाएँ १४ राज लोक में व्याप्त होती हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है। शरीर रचना के लिये उपयोगी पुदगल वर्गणा का ग्रहण एव परिणमन, अपनी आत्मा के साथ सयुक्त बनकर, कर्मरूप में परिणाम प्राप्त कार्मण वर्गणा के पुदगलों के आधीन रहकर प्रत्येक आत्मा करती है, वैसा भी ऊपर कहा गया है। अर्थात् शरीर के योग्य पुदगलो को ग्रहण और परिणमन करवाने वाले, जीव के पूर्व जन्म के उपार्जित कर्म ही होते हैं। वे कर्म प्रकृतियाँ "नाम कर्म की" प्रकृतियाँ हैं। नाम कर्म को जैन दर्शनकारों ने चित्रकार की उपमा दी है।

चित्रकार को जैसा भी चित्र बनाना होता है, उसी के अनुरूप रेखा, रंग, सफाई आदि की सामग्री वह पहले से तैयार रखता है। उस सामग्री की न्यूनता के अनुसार चित्र में भी अभाव एव त्रुटियाँ होगी। अतएव चित्रकारी में किसी चीज की न्यूनता का अनुभव न करना पड़े इस बात का ध्यान पहिले ही रखना पडता है। जिस चित्र के लिये सारी योग्य सामग्री पहिले से जुटा कर रक्खी जाती है वह चित्र अन्त में सपूर्ण एवं त्रुटि हीन बनता है। मकान बनाने वाले अथवा कारखाना चलाने वाले, मनुष्य अथवा

कारखाने के लिये अनुकूल योजना पहिले से रख लेते हैं। उस योजना के अनुसार फिर काम सुचारु रूप से चलता है। उसी प्रकार एक भव से मुक्त होकर, दूसरे भव में उत्पत्ति के साथ ही, शरीर रचना सम्बन्धी पूर्व भव में उपार्जित कर्मों का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो जाता है। और इस प्रकार सारी रचना का प्रारम्भ उसी पूर्वार्जित कर्मों की योजना के अनुसार हो जाता है, उसमें न कोई नवीन प्रकार से वृद्धि होती है न कोई त्रुटी ही रहती है।

शरीर रचना के कार्य में ७२ कर्म प्रकृतियों के द्वारा शरीर योग्य पुद्गलों का ग्रहण एवं परिणमन होता है। पुद्गल का ग्रहण और परिणमन करवा के जीव को विपाक का अनुभव कराने वाली होने से, ये कर्म प्रकृतियाँ शास्त्र में 'पुद्गल विपाकी' प्रकृतियों के नाम से पहिचानी जाती हैं। ये ७२ प्रकृतियाँ निम्न प्रकार से हैं —

शरीर नाम कर्म	५
अंगोपांग नाम कर्म	३
बंधन नाम कर्म	१५
संघातन नाम कर्म	५
संहनन नाम कर्म	६
संस्थान नाम कर्म	६
वर्ण नाम कर्म	५

गंध नाम कर्म	२
रस नाम कर्म	५
स्पर्श नाम कर्म	८
अगुरु लघु नाम कर्म	१
निर्माण नाम कर्म	१
परघात नाम कर्म	१
उपघात नाम कर्म	१
आतप नाम कर्म	१
उद्योत नाम कर्म	१
प्रत्येक नाम कर्म	१
साधारण नाम कर्म	१
शुभ नाम कर्म	१
अशुभ नाम कर्म	१
स्थिर नाम कर्म	१
अस्थिर नाम कर्म	१

कुल पुदगल विपाकी कर्म प्रकृतियाँ ७२ हुई ।

उपरोक्त कर्म प्रकृतियों के द्वारा आत्मा के प्रयत्न से शरीर योग्य पुदगल वर्गणा के ग्रहण और परिणमन से बनती हुई

शरीर रचना का विस्तृत स्वरूप

गति नाम कर्म और जाति नाम कर्म के अनुसार

निश्चित परिस्थिति तथा उत्पन्न होने के संयोग वाले स्थल में, आनुपूर्वी कर्म के द्वारा लाकर रक्खे जाने के साथ ही साथ उसी समय आत्मा का शरीर, नाम कर्म उदय में उत्पन्न आत्मा, गति कर्मानुसार जिस गति में उत्पन्न हुइ हो उसी के अनुसार वह अपनी सामग्री प्राप्त करती है। उत्पन्न के स्थान में शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं में से यथायोग्य वर्गणा ग्रहण करने का अधिकार आत्मा को इस शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होता है। साथ ही जब तक वह शरीर मौजूद रहे तब तक उसी तरह वर्गणा ग्रहण करने का अधिकार चलता रहता है।

यहां यह समझना आवश्यक है कि पाँच प्रकार के शरीर में मनुष्य और तिर्यंच के योग्य मुख्यत औदारिक शरीर है, और देव तथा नारक के योग्य वैक्रिय शरीर है। अतएव मनुष्य और तिर्यंच को औदारिक शरीर की रचना करने के लिये औदारिक शरीर नाम कर्म से, औदारिक पुद्गल वर्गणा आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करने का अधिकार है। इसी प्रकार देव और नारक को वैक्रिय शरीर की रचना करने के लिये वैक्रिय शरीर नाम कर्म से, वैक्रिय जाति की पुद्गल वर्गणा प्राप्त करने का अधिकार है।

उत्पत्ति के प्रथम समय में ही ग्रहण किये जाने वाले

शारीरिक पुद्गलों को जीव अनादिकाल से अपनी आत्मा के साथ संयुक्त होकर रहे हुए तैजस और कार्मण शरीर के संयोग से ग्रहण करता है, इसे, आहार ग्रहण, कहते हैं। चौबीस दंडकों में, पाचों जातियों में, छ कायों में इस प्रकार जहाँ जहाँ शरीर हो, चाह वे औदारिक, वैक्रिय अथवा आहारक ही क्यों न हों, उन सब में तैजस और कार्मण शरीर तो मानने ही पड़ेंगे। इसका कारण यही है कि अनादिकाल से ये दोनों शरीर जीव से संलग्न हैं, और इन तैजस और कार्मण के बिना दूसरे शरीर बन ही नहीं सकते हैं। परभव से आई हुई आत्मा के साथ तैजस और कार्मण शरीर तो होते ही हैं और उनकी सहायता से ही यह औदारिक आदि पुद्गलों को ग्रहण करती है। जीव को तैजस और कार्मण शरीर दिलाने वाले क्रमश तैजस शरीर नाम कर्म एव कार्मण शरीर नाम कर्म हैं और चौदह पूर्वधर मुनियों का आहारक शरीर बनाने में कारण भूत आहारक शरीर नाम कर्म होता है। इसी प्रकार पाँचों शरीरों के अनुकूल पाँचों प्रकार की पुद्गल वर्गणा ग्रहण करवाने वाले, तत्सम्बन्धी नाम वाले पाँचों प्रकार के शरीर नाम कर्म हैं। तैजस कार्मण और आहारक शरीर, सूक्ष्म वर्गणाओं से बने हुए होने के कारण चर्म चक्षुओं से देखे नहीं जाते हैं।

अब हम देखते हैं कि स्वशरीर योग्य पुद्गलवर्गणा का ग्रहण जीव शरीर नाम कर्म के उदय से करता है, परन्तु जिस पुद्गल वर्गणा को वह ग्रहण करता है वह रेती के लड्डू जैसी चूर चूर अवस्था में नहीं होती, परन्तु वह विशेष प्रकार के स्नेह चिकनाहट एवं रूखाई के कारण परस्पर चिपकी हुई अर्थात् संघातीभूत होती है। जिस प्रकार कुम्भ बनाने में छिन्न भिन्न मिट्टी के कण उपयोग में नहीं आते हैं, परन्तु कुम्भ रचना के अनुकूल किया हुआ मिट्टी का पिंड ही उपयोगी सिद्ध होता है, उसी तरह शरीर रचना में भी उसके अनुरूप पुद्गल वर्गणा का पिंड ही काम में लिया जाता है। शरीर की निश्चित लम्बाई तथा चौंडाइ के अनुसार पुद्गल वर्गणा के समूह रचना की भी आवश्यकता होती है तभी शरीर का तारतम्य प्राप्त होता है। इस प्रकार का संघात (पुद्गल वर्गणा की समूह रचना) करने वाला एक प्रकार का नाम कर्म, जीव ने पहले से प्राप्त कर रक्खा होता है, उसे "संघातन नाम कर्म" कहते हैं। संघातन नाम कर्म जीव को "वर्गणा के संघात प्राप्त स्कंध" प्रदान करता है। यह भी पाँच प्रकार के शरीरों के अनुसार पाँच प्रकार का होता है।

संघातन नाम कर्म तथा शरीर नाम कर्म के बल से संघात प्राप्त शरीरिक पुद्गल वर्गणा को

जीव प्रथम समय में ले लेता है, इसे आहार कहते हैं। जीव का भव योग्य शरीर जब तक कायम रहता है, तब तक यह वर्गणा रूप आहार उसे प्राप्त होता रहता है परन्तु इतना आवश्यक है कि वर्गणा रूप आहार जब तक प्राप्त होता रहता है, तब तक उसमें प्राप्त और प्राप्य वर्गणा के स्कन्ध, परस्पर एक रचना रूप में मिल जाना चाहिये। जैसे मकान बनाते समय उपयोग में आने वाला ईंटों के रजकण अन्दर ही अन्दर सघाती भूत हो जाते हैं, परन्तु ईंट पर ईंट लगा देने से मकान की दृढ़ता नहीं होती, अत उन्हें मिट्टी अथवा चूने से परस्पर जोड़ना पड़ता है वैसे ही सघात प्राप्त वर्गणाएँ भी परस्पर एक दूसरे से मिल जानी चाहिये। इसके लिये प्रज्ञापना सूत्र में कहा है कि एक ऐसा कर्म है, जो काष्ट के दो टुकड़ों को जोड़ने वाले लाख की तरह आत्मा और पुद्गल को या परस्पर पुद्गलों को एक दूसरे के साथ जोड़ देता है, उस बन्धन नाम कर्म कहते हैं। उसके पन्द्रह भेद हैं, जो कर्मग्रन्थादि में विस्तृत स्वरूप में बताये हुए हैं। इससे समझ में आता है कि औदारिक आदि शरीर, नाम कर्म के उदय से औदारिकादि शरीर के अनुकूल वर्गणा की प्राप्ति, औदारिकादि सघातन कर्म... उदय से, औदारिकादि शरीर के

रचना और औदारिकादि बंधन नाम कर्म के उदय से, उस समूह विशेष का औदारिकादि शरीर के साथ परस्पर एक रस सम्बन्ध होता है। यहाँ तक तो शरीर नाम कर्म ने सारा कच्चा माल जुटाया, परन्तु परस्पर एक रस बना हुआ यह पुद्गलों का परिणमन, इतने में ही पूर्ण स्वरूप में मान ले तब तो शरीर मात्र एक गोलमटोल गेंद के जैसा बन कर रह जाए, परन्तु वह ऐसी स्थिति में नहीं रहता है। उसमें से हाथ, पैर, मस्तक, पेट, छाती, पीठ आदि अंग, अँगुली, कान, नाक आदि उपाँग तथा बाल, दाँत, नख, रेखा आदि अंगोपांग रूप शरीर के योग्य अवयवों का प्रस्फुटन होता है। तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग नहीं होते हैं। अतः औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग और आहारक अंगोपांग ऐसे तीन प्रकार के "अंगोपांग नाम कर्म" भिन्न भिन्न शरीर के अनुकूल अवयवों को बनाते हैं। अंगोपांग नाम कर्म से प्राणी के शरीर में अंग-उपांग निकलते हैं, परन्तु कौनसा अवयव कहाँ होना चाहिये इसका निर्णय "निर्माण नाम कर्म" करता है।

गृहीत वर्गणा के परिणमन होने में "निर्माण नाम कर्म" प्रथम पलसे ही प्रभाव डालना शुरू कर देता है। इसके परिणाम स्वरूप क्रम से फल प्राप्त होता जाता है।

ऐसा क्रम सन्निवेश परिणाम प्रत्येक प्राणी में जीव विशेष के अनुसार भिन्न भिन्न परिस्थिति वाला होता है। इस तरह प्रत्येक जीव की परिस्थिति के अनुकूल प्रयोग से उत्पन्न होने वाले क्रमसन्निवेश परिणाम में यह "निर्माण नाम कर्म" कारण भूत है। अंगोपांग की रचना अंगोपांग नाम कर्म द्वारा होती है, परन्तु जो अंग जहाँ उपयुक्त हो और शोभायमान हो उसका सही निर्णय निर्माण नामकर्म ही कर सकता है। निर्माण नाम कर्म का कार्य मात्र बाह्य अंगोपांगों के स्थान निश्चित करने तक ही सीमित नहीं है, परन्तु शरीर के छोटे बड़े सभी तत्वों का विधिपूर्वक चित्रण करनेवाला भी यह निर्माण नाम कर्म ही है।

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक तमाम जीवों में शरीर के अवयवों की रचना और स्थिति एक सी नहीं होती है। जीव के व्यापार से शरीर रचना होती है, तब भी जीव की इच्छानुसार शरीर नहीं बनता है। अपने प्रयास से भी बनने वाला शरीर स्वच्छानुसार नहीं बनाया जा सकता, इसका कारण यही है कि रूप और आकार का आधार "निर्माण नाम कर्म" के उदय पर आश्रित है।

जैसा निर्माण नाम कर्म होगा वैसा ही शरीर जीव से बन सकेगा। निर्माण कर्मोदय में जीव के जिस व्यापार से पुद्गल का परिणमन, शरीरादि रूप में ... होता है

पुद्गल परिणमन, प्रयोग परिणत कहलाते हैं। ऐसे प्रयोग परिणाम में पुद्गल एक ही प्रकार के ग्रहण किये जाते हैं। फिर भी परिणमन भिन्न भिन्न प्रकार से होने का कारण निर्माण नाम कर्म है। निर्माण नाम कर्म अनेक प्रकार का है। अतः योग परिणत होने वाले पुदगलों का परिणमन भी अनेक प्रकार का होता है।

एक ही प्रकार का भोजन लेने पर भी उस भोजन के पुद्गल, मनुष्य के शरीर में मनुष्य रूप में और पशु के शरीर में पशु रूप में परिणमन को प्राप्त करते हैं। जिन परमाणुओं का गाय में दूध के रूप में परिणमन होता है, उन्हीं का परिणमन सांप में विष के रूप में होता है। हमारे पीने और वृक्ष लताओं को सींचने का जल एक ही होता है परन्तु उसका परिणमन भिन्न भिन्न जीवों में, भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। एक ही प्रकार के भोजन और जल का परिणमन विविध प्रकार से हम प्रत्यक्ष अनुभव में पाते हैं। इसी प्रकार शरीर के योग्य गृहीत पुदगलों का परिणमन, जीवों के कर्मानुसार - गत्यानुसार भिन्न भिन्न प्रकार से होतो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

परिणमन में इस प्रकार भिन्नता होने का कारण जैसा ऊपर कहा गया है "निर्माण नाम कर्म ही है।"

शरीर क योग्य ग्रहीत पुद्गलों के परिणमन म एक जाति से अन्य जाति में भिन्नता का होना समव है, इतना ही नही, परन्तु एक ही जाति में भी भिन्नता का होना सभव है।

मनुष्य जाति म भी कोई छोटे कान वाला, कोई बैठे नाकवाला, कोई लम्बे मुह वाला, कोई उचा और कोई नीचा होता है। इन सबका कारण यही है कि जीव जैसे निर्माण नाम कर्म का उदयवाला होता है, उसी क अनुरूप शरीर के अवयव भी बनते हैं। पुदगल सब समान होते हुए भी परिणमन करने वाला जीव, जैसे निर्माण नाम कर्म का उदयवाला होगा वैसे ही शरीर में उन पुदगलो का परिणमन होगा।

निर्माण नाम कर्म क द्वारा होने वाला विविध प्रकार का परिणमन भी इन्द्रिय की अपेक्षा से जिस जाति का जीव हो, और वह जिन पुदगलो को ग्रहण कर, उसी जाति म सभव होता है। अर्थात् निर्माण नाम कर्म को जाति नाम कर्म के दास की तरह भी पहिचाना जा सकता है।

ससारी जीवों में एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक पाच भेद हैं। उनमें यही कारण पुद्गलों क परिणमन का है। परिणमन भिन्नता यदि न होती तो ससारी जीवों

मे एकेन्द्रियादि जाति भिन्नता और तिर्यचादि गति भिन्नता का हमें ज्ञान भी नहीं होता और इस प्रकार के गति भिन्नता के ज्ञान के बिना जीव मे एकेन्द्रियतादि अथवा तिर्यचादिता को हम समझ भी नहीं पाते, फिर तो सभी ससारी जीवो का शरीर एक सा दिखाई पडता। प्रयोग परिणमन की भिन्नता के आधार पर ही शरीर के अवयवों की रचना में भिन्नता होती है, और शारीरिक अवयवो की रचना में भिन्नता के आधार पर ही ससारी जीवो की गति और जाति के अनुसार कथित भेदो का हमे ज्ञान होता है, इन सब का मुख्य कारण निर्माण नाम कर्म है। अत यह स्पष्ट है, कि ग्रहण करने वाले जीवो के कर्मानुसार व कायनुसार पुदगल परिणमन होता है।

यहाँ हम फिर स्पष्ट करदे कि शरीर नाम कर्म और सघातन नाम कर्म द्वारा औदारिकादि वर्गणा के सघात प्राप्त पुद्गलो को ग्रहण करने के बाद, बधन नाम कर्म द्वारा उन पुदगलो को परस्पर एक रस सम्बन्ध वाले बना कर, अगोपाग नाम कर्म द्वारा अग उपाग और अगोपाग का स्पष्ट विभाग रूप म परिणमन होने में, अमुक अवयव जिस स्थान में और जिस स्वरूप में चाहिये, उसी स्थान और स्वरूप की रचना होने में "निर्माण नाम कर्म" ही

कारण भूत है। उपरोक्त कर्म के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण और परिणमन होने से तैयार होने वाले शरीर में अमुक प्रकार से हड्डियों की दृढ़ता सम्बन्धी परिणमन की भी आवश्यकता रहती है। जितनी हड्डियों की दृढ़ता अधिक होगी उतना शरीर को व्याघात कम लगेगा। हम शास्त्रों में सुनते हैं कि तीर्थङ्कर जैसे महापुरुषों के शरीर पर अनेक उपसर्ग होते हुए भी, उनकी हड्डियों की जोड़ हानि नहीं पहुँचती। इसका कारण यही है कि उनकी हड्डियों के बंधन उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। जैसे मकान बनाने में लकड़ी के जोड़ों को सुथार लोग मजबूती से मिला दें तो वे जोड़ सरलता से नहीं छूटते और मकान अधिक काल तक टिक सकता है। उसी प्रकार शरीर की हड्डियाँ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त, बिना जोड़ की, एक ही हड्डी नहीं होती है परन्तु भिन्न भिन्न अवयवों में ही कई हड्डियाँ भिन्न भिन्न जोड़ों से जुड़ी हुई होती हैं और ये जोड़ जितने अधिक दृढ़ होते हैं, उतने ही दृढ़ता से विभिन्न हड्डियों को परस्पर जोड़ रहते हैं, और वे हड्डियाँ आसानी से अलग नहीं होती।

प्राय हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति की हड्डी तुरन्त उतर गई, इसका अर्थ यही है कि उस हड्डी का जोड़ अन्य हड्डी के साथ कमजोर होने से ढीला रहा और

उसी के साथ हड्डी अलग होगई या उतर गई। हड्डी उतरने से व्यक्ति को बहुत पीड़ा सहन करनी पडती है। यदि कोई कुशल हाड वैद्य मिल जाय तो वह योग्य उपचार से उतरी हुई हड्डी को यथा स्थान बिठा देता है, और उसी समय से रोगी शांति का अनुभव करने लगता है।

शरीर में एक हड्डी के किनारे से दूसरी हड्डी का किनारा कैसे जोडा जाता है, यह ऊपर की बात से सरलता पूर्वक समझ में आएगा। जन्म से ही शरीर में जिस प्रकार की हड्डियों का सयोजन होता है, उसी प्रकार के सयोजन से उतरी हुई हड्डी का सयोजन हो तभी रोगी को शाति मिलती है। वैसे सयोजन मे यदि कोई त्रुटि रह जाय तो उतनी त्रुटि उस हड्डी वाले अग में भी रह जाती है। अत हडिडयो का सयोजन जन्म से ही प्रत्येक जीव में होता है, यह सयोजन प्रत्येक प्राणी में समान नहीं होता है। भिन्न भिन्न प्रकार के सयोजन के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से हड्डियों की दृढता होती है, और यह दृढता भी ससार के सभी प्राणियो मे कम अधिक परिमाण में होती है, परन्तु उसका सामान्य वर्गीकरण करके छ दृष्टांतों से छ प्रकार की दृढता जैनागमो में समझाई गई है।

लकड़ी में आने वाले जोड़ मजबूत बनाने के लिये सुथार भिन्न २ नाम के जोड़ों से लकड़ियों को जोड़ता है और उन्हें "गामुखी' आदि नामों से बोलता है। उसी प्रकार प्राणियों के शरीर में हड्डियों के जोड़ों का भी "वज्र ऋषभनाराचादि" नामों से जैन शास्त्रकारों ने परिचय दिया है।

शरीर के अगोपांग आदि, जीव के उत्पन्न होने के साथ ही तैयार नहीं हो जाते हैं, परन्तु गृहीत वर्गणा में आरम्भ से ही ऐसा परिणाम होने लग जाता है कि परिणमन होते २ वह परिणाम अमुक समय में अगोपांग के रूप में तैयार हो जाता है। उसी प्रकार शरीर की जैसी मजबूती होती है, उसमें उपयोगी हो उसी तरह प्रारम्भ से ही ग्रहण की हुई वर्गणा में परिणाम होने लगता है, और भविष्य में निश्चित दृढ़ता तैयार हो जाती है। इस प्रकार हड्डियों की भिन्न २ प्रकार की दृढ़ता का प्रेरक कर्म "संहनन नाम कर्म" कहलाता है। जैसा संहनन नाम कर्म होगा उसी के अनुकूल दृढ़ता का परिणमन प्राणियों के शरीर में होगा।

देहधारी प्राणियों के शरीर और उनके अवयव देखने से यह पता चलता है कि कई प्राणियों के शरीर और अवयवों की रचना सुन्दर और आकर्षक होती है

और कई प्राणियों की शरीर रचना में कोई विशेष आकर्षण नहीं होता है। सामुद्रिक शास्त्रों में शरीर के माप, आकृति, रेखाएं आदि का वर्णन मिलता है। उनके अनुसार समप्रमाण शरीर और अवयवों की आकृति दूसरों को आकर्षित करती है और विषम प्रमाण वाली आकृति में आकर्षण नहीं होता है।

प्राणियों के शरीर और उनके अवयवों की समप्रमाण अथवा विषम प्रमाण आकृति का नियामक "संस्थान नाम कर्म" है। इस संस्थान नाम कर्म के अनुसार ही शरीर की सुन्दर या कुरूप आकृति बनती है। यदि यह कर्म न हो तो शरीरादि की आकृति का कोई ठिकाना ही नहीं रहे। आकृति के रूप में पुद्गलों का परिणमन होने में संस्थान नाम कर्म ही प्रेरक है। संपूर्ण जगत के प्राणियों की शरीर की आकृतियों को जाँचें तो असंख्य प्रकार की आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु अमुक मुख्य भेदों में, अन्य उपभेदों का समावेश हो जाय, इस प्रकार जैन शास्त्रों में उन सभी आकृतियों का छ प्रकार से वर्गीकरण करके संस्थान नाम कर्म का विवेचन किया गया है। आकृति रूप में परिणमन भी, जीव के शरीर योग्य पुद्गल ग्रहण के प्रथम समय से ही आरम्भ हो जाता है और अवयव तथा उनकी

इना तैयार होने क साथ ही स्पष्ट आकृति के रूप म प्रकट हो जाता है। सस्थान नाम कर्म ही सस्थान (शरीर का आकार) पैदा करता है। छ प्रकार क सस्थान में सर्वोत्तम सस्थान कैसा होगा और सबसे निम्न श्रेणी का सस्थान कैसा होता है यह बता कर उनके बीच के जानने योग्य उपयोगी भेद बताए ह। इस आधार पर समझ में आता है कि शरीर की रचना के अनुकूल जुगाये हुए और परस्पर सम्बन्ध रखने वाले शारीरिक पुद्गलो में सस्थान—आकार विशेष को सस्थान नामक नाम कर्म उत्पन्न करता है। यानि शरीर में अमुक २ जाति का आकार होने में सस्थान नाम कर्म ही कारण है।

उपरोक्त प्रकार से तैयार होने वाले शरीर म उसकी रचना के प्रथम क्षणसे अपने कर्म के अनुसार रग, स्वाद, स्पर्श और गध आदि का भी परिणाम होने लग जाता है। ससारी जीवो का शरीर पुद्गल परमाणुओ की वर्गणासे बनता है, यह तो सरलता से समझ में आ सकता है। पुद्गल वर्गणा से बने हुए शरीर में अमुक रग, स्वाद, स्पर्श, गध आदि भी होना स्वाभाविक है। अत शरीर और आत्मा के सबध में प्रत्येक प्राणी के शरीर में वर्णादि चतु

निश्चित करने वाला कर्म भी आवश्यक है। यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि वर्णादि चतुष्क तो पुद्गलों में होता ही है, फिर उसे उत्पन्न करने वाले कर्मों की क्या आवश्यकता रहती है?

इस शंका के समाधान में यह समझना आवश्यक है कि जो शरीर तैयार हो रहा है, उसमें वर्णादि प्रकट करने वाले प्रकृ कर्मों को यदि न मानें तो अनेकशाली के वर्णादि समान हों, परन्तु प्रत्येक प्राणी के शरीर में वर्णादि की विचित्रता दिखाई देती है और यह कर्मों के बिना संभव ही नहीं हो सकती। जैसे बंधन और संघातन प्राप्त करने का गुण परमाणु में हैं, फिर भी अमुक प्राणी के शरीर के परमाणुओं में, अमुक प्रकार के बंधन और संघातन होते हैं और वे भी उसके बंधन और संघातन नाम कर्म के कारण। उसी प्रकार वर्णादि गुण परमाणुओं में होते हुए भी अमुक प्राणि के शरीर में अमुक प्रकार से परिवर्तन होते हैं, वे सब जीव के कारण ही होते हैं। अतः मानना पड़ेगा कि शरीर रूप में परिणाम प्राप्त पुद्गल वर्गणाओं में प्रतिनियत वर्णादिका होना कर्म के बिना संभव नहीं होता है। इससे सिद्ध है कि देहधारी आत्मा के शरीर में ~ परिणाम में कर्मों की आवश्यकता तो रहती

अत नयो नाम कर्म, गध नाम कम, रस नाम कम और स्पर्श नाम कर्म न पहिले से जो निश्चित कर लिया हो उसीके अनुसार र ग, गन्ध, रस और स्पर्श प्राणियों के शरीर में उत्पन्न होता है।

पहिले से परिणाम होते ममय उस कर्म को ध्यान मे लेकर ही यथा योग्य परिणाम होना शुरु हो जाता है। परिणाम में वर्णादिका जो भिन्नता होती है वह वर्णादि कर्मों के ही कारण होती हैं। प्रत्येक जीव की भिन्न २ परिस्थिति और सयोग के अनुसार वर्णादिकी भिन्नता रहगी और इस प्रकार वर्णादि के परिणाम की भिन्नता का कारण जीव का कर्म ही होता है, यह मानना चाहिये। साथ ही यह भी नहीं भूल जावें कि वर्ण, गध रस तथा स्पर्श नाम कर्म से शरीर रूप मे परिणाम प्राप्त परमाणुओं के प्राकृतिक वर्णादि पर अमुक आत्मा का हा आधिपत्य होता है, इसलिये औदारिक शरीर की वर्गणा में रह हुए स्वाभाविक वर्णों में से श्याम वर्ण नाम कर्म के उदय पर कोयल, भ्रमर, कौआ, भैंस, बकरी, भील, हब्सी आदि प्राणियो के शरीरों में काले वर्ण रूप में, नील वर्ण नाम कर्म क उदय होने पर वृक्षों की पत्तियाँ, तोते आदि में हरित व र्ण के रूप में, रक्त वर्ण नाम कर्म के उदय पर मिर्च लाल, बेर, लाल

घोडे आदि में रक्त वर्ण के रूप में, पीत वर्ण नाम कर्म के उदय पर हल्दी आदि में पीत वर्ण के रूप में, श्वेत वर्ण नाम कर्म के उदय पर गाय, बगुला सारस आदि में श्वेत वर्ण के रूप में, परिणाम प्राप्त करते है। श्याम वर्णादि वर्णों वाले प्राणियो में उस रग का थोटा थोटा फेर जो नजर आता है उसका यही अर्थ समझें कि अमुक २ रग वाला नाम कर्म भिन्न भिन्न जाति का होता है।

इस प्रकार औदारिक शरीर की वर्गणा में रहे हुए स्वाभाविक गध, रस, और स्पर्श, प्राणियों के पृथक २ गध, रस, और स्पर्श नाम कर्म के उदय से पृथक २ गध, रस, और स्पर्श में परिणाम पाते हैं ऐसा समझ लेना चाहिये। एक जीव के शरीर में ये वर्णादि एक से अधिक भी हो सकते हैं। जैसे ही भिन्न २ भागो में और अवयवो में भिन २ भी होत हैं। पुदगल परमाणुओ में वर्णादिका परिणाम प्राप्त करने का गुण स्वाभाविक है। वर्णादिका विस्रसा अथवा मिश्र परिणमन हो तो, उस परिणाम में कर्म को हम कारण नहीं मान सकते है। पर तु जीव ने जिन शरीरादि के योग्य पुदगल स्कधो को ग्रहण किया हो उनमें वर्णादिका जो परिणाम होता है वह प्रत्येक जीव की भिन २ परिस्थिति एव सयोग के अनुसार विचित्र २ जातिका होता है। अतः जीव के इस प्रयोग परिणाम में जीव के कर्म को

ही कारण मानना चाहिये। यह कर्म जीव के द्वारा प्राप्त किये हुए शरीरादिक स्कंधों में उत्पन्न होने वाले पर्यादि प्रयोग परिणाम का नियामक है। इसी प्रकार अब शरीर के अगुरूलघुत्व के परिणमन के विषय में भी समझें।

पुद्गल परमाणु और स्कधों के सघात, वर्ण, गध, स्पर्श, सस्थान आदि अनत परिणाम होते हैं। और वे सब विचित्रता पूर्ण हैं। सर्व अवान्तर परिणामों का मूल तत्वरूप एक अगुरुलघु नाम का व्यापक परिणाम भी होता है। जीवों का शरीर पुद्गल परमाणुओं का बनता है। इससे जीवद्वारा ग्रहण किये गये शरीरादि के योग्य स्कधों में भी यह अगुरुलघु पर्याय परिणाम होता है। शरीर के स्कधो में यह परिणाम प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न परिस्थिति और सयोग के अनुसार विचित्र विचित्र प्रकार का होता है। इस विचित्रता का कारण कर्म ही है। किस जीव के शरीर में किस प्रकार के अगुरुलघु पर्याय का कैसा परिणाम होता है इसका निर्णय "अगुरुलघु नाम कर्म" करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर में उत्पन्न होने वाले अगुरुलघु प्रयोग परिणाम का नियामक, अगुरुलघु नाम कर्म होता है। जीवों का सम्पूर्ण शरीर लोहे जैसा भारी न हो, उसी प्रकार रुई

के समान हल्का भी न हो, ऐसी अगुरुलघु पर्याय वाली शरीर की रचना इस कम से होती है। स्पर्श नाम कर्म में गुरु और लघु दो स्पर्श बताए हैं, वे शरीर के अमुक अमुक अवयवों में ही अपनी शक्ति बताते हैं। उन दो का विपाक सपूर्ण शरीराश्रित नहीं है, जब कि अगुरुलघु नाम कर्म का विपाक सपूर्ण शरीराश्रित है।

शरीर की रचना में एक ऐसा भी परिणाम प्रकट होता है कि उस परिणाम वाले शरीर धारी ओजस्वी व प्रतापी जीव अपने दर्शन मात्र से भी तथा वाणि की पटुता से बडी से बडी सभा में जाकर भा सभासदों में क्षोम फैला देते हैं, विपत्ती की प्रतिमा को दबा देते हैं। इस परिणाम वाली आत्मा में वह बल होता है जो बुद्धि शालियों को भी शर्मिदा कर देता है सामने वाले को आकर्षित कर लेता है और विपक्षी कितना ही बलवान क्यों न हो उसे भी पराजित कर देता है। प्रत्येक जीव की परिस्थिति के अनुसार कम अधिक परिणाम मे इस परिणाम से उत्पन्न होने वाली आत्मा की शक्ति "पराघात शक्ति" कहलाती है। और उस शक्ति को जन्म देने वाले कर्म को पराघात नाम कर्म कहते हैं। विपक्षी की अपेक्षा अपने अन्दर पराघात शक्ति विशेष होने से कितने ही उत्सूत्र प्ररुपकों, निन्हवो तथा मिथ्यावादियों की

भी असद् प्ररूपणा को प्रभाव अनेक आत्माओं पर तुरन्त पड़ जाता है और इस से उनके अनुयायियों की संख्या विशेष रूप से बढ़ने से कई भद्रिक आत्माओं के हृदय में आश्चर्य पैदा होता है। ऐसे प्ररूपकों की प्ररूपणा असत् हो तो उनका अनुयायी वर्ग इतना क्यों बढ़ता है, ऐसी मिथ्या शंका इस पराघात नाम कर्म का स्वरूप समझने वाले के हृदय में कदापि उपस्थित नहीं हो सकती है।

पराघात कर्मरूप पुण्य प्रकृति के योग से, आज असत् प्ररूपक भले ही बढ़ रहे हों, परन्तु उस पुण्य के खर्च होते ही मिथ्या प्ररूपणा करने से उपार्जित घोर कर्मविडम्बनाएँ तो अवश्य भुगतनी पड़ती है। इस पराघात शक्ति से विपरीत उपघात नामक एक ऐसा परिणाम कई प्राणियों के शरीर में उत्पन्न होता है, जिससे कई प्राणियों के शरीर में आवश्यक अंगोपांग के अतिरिक्त अधिक अंगोपांग भी हम देखते हैं। जैसे शरीर में बढ़ी हुई प्रतिजिह्वा या जीभ पर दूसरी जीभ, गल चूंदक, चोर दांत, छटी अंगुली आदि। शरीर में स्थाई बाधा पैदा करने वाले ऐसे विचित्र प्रकार के अंगोपांग, उपघात जनक प्रयोग परिणाम के उदय से होते हैं। जिनसे जीव बड़ा दुःखी होता है। क्योंकि उपरोक्त प्रतिजिह्वा

आदि जीव के उपघात कर्त्ता ही होते हैं ऐसे उपघात जनक प्रयोग परिणाम को जन्म देने वाला कर्म उपघात नाम कर्म कहलाता है। किसी किसी जीव के शरीर में "आतप" नामक का एक ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि उसे यदि हम स्पर्श करें तो ठंडा लगता है, परन्तु उसमें से बाहर निकलने वाली किरणें दूर दूर तक गर्म लगती हैं। और अन्य वस्तु को भी गर्म करती हैं। जिसका स्पर्श गर्म हो उसका प्रकाश तो गर्म होना स्वाभाविक है, परन्तु इस आतप नाम के परिणाम में तो खूबी इस बात की है कि जिस शरीर में यह परिणाम होता है उसका स्पर्श तो शीत और प्रकाश उष्ण होता है। ऐसा परिणाम जगत के अन्य सभी जीवों को छोड़ कर मात्र सूर्य के विमान के नीचे रहे हुए बादर पृथ्वी-काय के जीवों में ही होता है। सूर्य का बिम्ब जो हम देखते हैं, एक प्रकार का पार्थिव निर्माण है, जैसे सोना, लोहा आदि। और उसमें सूर्य नाम की देव जाति रहती है, परन्तु इस पार्थिव बिम्ब में पृथ्वीकाय के जीव उत्पन्न होते हैं अर्थात् यह बिम्ब असंख्य पार्थिव जीवों के शरीरों का समूह होता है। उसके मूलस्थान में गरमी नहीं होती परन्तु दूर दूर अधिक अधिक गरमी होती है। यद्यपि यह विचित्र खोज है, परन्तु इसे जानना चाहिये। सूर्य का ताप हमें गर्म लगता है,

परन्तु शास्त्रकार हमें बताते हैं कि सूर्य स्वय इतना गरम नहीं है। ऐसा आतप परिणाम जीवों के शरीर में उत्पन्न करने वाला कर्म आतप नाम कर्म कहलाता है।

हम कई प्राणियों के शरीरों को चमकते हुये भी देखते हैं, वे भीषण गरमी पैदा नहीं करके ठंडक पैदा करते हैं, ऐसे उद्योत, प्रभा, कांति नामक के प्रयोग परिणाम का प्रेरक, उद्योत नाम कर्म कहलाता है, ऐसा शीत प्रकाशरूप उद्योत लब्धिरत मुनि महात्माओं में तथा देवताओं के उत्तर वैक्रिय शरीर में, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारों के विमान के नीचे रहे हुए पृथ्वीकाय के शरीर में तथा कितने ही प्रकारकी वनस्पति आदि में भी होता है, इस उद्योत का स्पर्श और प्रकाश दोनों शीतल होते हैं, खजुए (चौरेन्द्रिय जीव), मणि तथा रत्नादि में भी ऐसा उद्योत होता है।

शरीर में कुछ अवयवों का स्थिर होना जरूरी है कुछ का अस्थिर होना भी जरूरी है। पूरा शरीर स्थिर अथवा अस्थिर हो तब भी काम नहीं बनता। इसी प्रकार जो अवयव स्थिर होने चाहियें वे अस्थिर हो तब भी कार्य नहीं हो सकता है। जैसे अंगोपांगो की रचना शरीर के अमुक स्थान को लक्ष्य में रखकर ही की जाती है, वैसे ही अवयवों की स्थिरता और अस्थिरता भी उन उन अवयवों को लक्ष्य में रखकर ही होती है।

-कृतानुसार जिन अवयवों को मोड़ा जा सके उन्हें अस्थिर अवयव कहते हैं और जो अटल हों उन्हें स्थिर कहते हैं। हड्डियाँ, दाँत आदि स्थिर होने चाहिये। अवयवों में ऐसा स्थिर और अस्थिरता का परिणाम पैदा करने वाले क्रमश स्थिर नाम कर्म व अस्थिर नाम कर्म होते हैं।

अंगोपांग की रचनारूप परिणाम का नियामक अंगोपांग नामकर्म आगे बताया गया है। परन्तु उस अंगोपांग में कई अवयव जैसे हाथ, मस्तक आदि मनुष्यादि के शरीर के नाभि से उपर के अवयव शुभ गिने जाते हैं और पैर आदि शरीर के नीचे के भाग के अवयव अशुभ गिने जाते हैं।

जिन अवयवों का स्पर्श और दृश्य दूसरे को रुचिकर लगे वे अवयव शुभ होते हैं। और दूसरे को अरुचिकर लगनेवाले अवयव अशुभ माने जाते हैं। यदि अपने शरीर के किसी भाग में किसी का पैर लग जाय तो अरुचिकर लगता है और मस्तक लगने पर रुचिकर होता है। गुरु या पूज्य व्यक्ति का सत्कार शुभ माने हुए अवयवों द्वारा स्पर्श से ही माना गया है। उनके चरणों में सिर झुकाया जाय, दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया जाय तब उनका सत्कार माना जाता है। इस प्रकार रुचि और अरुचि पैदा करने के हिसाब से

हा उन अवयवों में, शुभाशुभ पन माना जाता है।
कई बार मोह की उत्कटता के कारण, दूसरों के अशुभ
अगों का स्पर्श भी कइयों को प्रिय लगता है तो उसमें
शुभ पन न मानकर, स्पर्श अनुभव करने वाले व्यक्ति
के मोह की उत्कटता ही मानी जाएगी।

गत पुरुषों का चरण स्पर्श कोई करता है तो वह
भक्ति के कारण। यहा तो वस्तु स्थिति का विचार होता
है। अत मोह की उत्कटता के कारण अथवा भक्ति के
कारण जो स्पर्श क्रिया जाय उससे उपरोक्त शुभाशुभ
के लक्षण में दोष नहीं समझना चाहिये। अवयवों में
इसप्रकार शुभाशुभ के प्रेरक क्रमश—शुभ और
अशुभ नाम कर्म कहलाते हैं। ये दोनों कर्म, अवयवों
को अच्छे और बुरे मनवाते हैं। इसमें किसी भी
पुद्गल का परिणमन नहीं होता है। परन्तु अगोपाग
नाम कर्म के द्वारा परिणत अगोपागों में शुभाशुभ पन
गिना जाने से, अगोपाग नाम कर्म की भाँति इन दोनों
(शुभ और अशुभ नाम कर्म) कर्म प्रकृतियों को भी
पुद्गल विपाकी कहते हैं। प्रत्येक जीव उत्पत्ति स्थान में
उत्पन्न होने के साथ, शरीर नाम कर्म के उदय होने
पर स्वशरीर योग्य, शरीर वर्गणा के पुद्गलों के ग्रहण
और उपरोक्त अन्य पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियों के

द्वारा परिणमन करवा कर अपना २ स्वतन्त्र शरीर तैयार करता है। इस प्रकार जिस कर्म के उदय पर एक २ जीव को भिन्न २ शरीर प्राप्त होते हैं, उस कर्म को "प्रत्येक नाम कर्म' कहते हैं। परन्तु प्रत्येक नाम कर्म से विपरीत एक "साधारण नाम कर्म" नामक भी ऐसा कर्म है जिसके द्वारा अनन्त जीव के बीच मात्र एक ही शरीर की निष्पत्ति होती है।

इस साधारण नाम कर्म के उदयवाले अनत जीव, इस प्रकार के कर्मोदय के सामर्थ्य से, एक साथ ही उत्पत्ति स्थान को प्राप्त करते हैं और एक साथ ही उनके शरीर की निष्पत्ति होती है। इस शरीर में उत्पन्न होने वाले जीवों में एक का आहार, उस शरीर के सभी जीवों का और सभी का आहार, एक जीव का आहार होता है। शरीर से सम्बन्धित एक जीव की क्रिया अनत जीवों की क्रिया होती है और अनंत जीवों की क्रिया एक जीव की क्रिया होती है। आहार और श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल का ग्रहण आदि, शरीर से सबंधित क्रियाओं के विषय में भी यही समझें। इसमें इतना समझना आवश्यक है कि इन जीवों में शरीरसे सबंधित सारी क्रियाए समान होती हैं। परन्तु कर्म का बन्ध, उदय, आयु आदि एक से हों, ऐसी बात नहीं है। ये समान भी हो सकते

है और कम ज्यादा भी। अतएव साधारण नाम कर्म तो एक शरीर में अनन्त जीवों को रहने के लिए ही है। एक बात और भी लक्ष्य में रखना चाहिये कि अनंत जीवों के बीच एक शरीर तो हो सकता है, परन्तु एक जीव के लिये अनेक शरीर हों ऐसा कभी नहीं होता है। कभी २ समाचार पत्रों में हम दो सयुक्त शरीरों में जन्म लिये हुए बालकों के विषय में पढ़ते हैं। उनमें सपूर्ण रूप से दो शरीर नहीं होते हैं। कुछ ही अवयव दुगुने होते हैं और उसे "उपघात" कहते हैं। ऐसे अवयवों की निष्पत्ति उपरोक्त "उपघात नाम कर्म" के योग से ही होती है। मनुष्य, देव, नारक, तिर्यंच पचेन्द्रिय, बे इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौरिन्द्रिय, पृथ्वी, अप, तेऊ, वाऊ, प्रत्येक वनस्पति आदि सभी जीव, प्रत्येक नाम कर्म क उदय से प्रत्येक शरीरी जीव हैं। और सूक्ष्म निगोद अथवा बादर निगोद (आलू शक्करकद आदि कद मूल) के जीव साधारण नामकर्म के उदय से, साधारण शरीरी होते हैं। अब यहाँ विचार पैदा होता है कि एक शरीर में अनन्त जीवों का समावेश किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यही है कि एक पदार्थ में अन्य पदार्थ के रहने की दो रीतियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होती हैं – (१) अप्रवेशी रीति और (२) प्रवेश रीति। एक पदार्थ

दूसरे पदार्थ को केवल स्पर्श करके भिन्न रूप से रहे उसे अप्रवेश रीति कहते हैं। जैसे एक बडी डिब्बी में उससे छोटी डिब्बी रक्खी जाय तो वह बडी डिब्बी को स्पर्श करके भिन्न रूप से रहगी और इस प्रकार स्पर्श करके भिन्न रूप से रहने की रीति अप्रवेश रीति कहलाती है।

एक पदार्थ अन्य पदार्थ में मात्र स्पर्श करने के रूप से न रह कर मट कर रहे तो उस प्रकार रहने की रीति को प्रवेश रीति अथवा सक्रांत रीति कहते हैं। जैसे लोह के गोले में अग्नि, एक दीपक के तेज में अन्य दीपक का तेज इत्यादि के अवगाहन को प्रवेश रीति अथवा सक्रांत रीति कहते हैं। क्षेत्र में क्षेत्री अर्थात् आकाश में धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का अवगाहन "संक्रातावगाह" कहलाता है। पुदगल में पुदगल का अवगाह सक्रात (प्रवेश रीति) और असक्रात (अप्रवेश रीति) इन दोनों प्रकार से होता है। असक्रात तो बडी डिब्बी में छोटी डिब्बी रह सकती है, इस दृष्टान्त से समझी जा सके ऐसी वस्तु है, और सक्रात अवगाह के अनुसार एक दीपक के तेज में अन्य दीपक के तेज का प्रवेश हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

पुदगलों में पुदगल सर्वांश रूप से प्रविष्ट होकर रह सकते हैं, यह बात अति स्पष्ट रूप से समझाते हुए

शास्त्रकार कहते हैं कि एक परमाणु में दूसरा परमाणु, दूसरे में तीसरा, तीसरे में चौथा, चौथे में पांचवां, इस प्रकार सख्यात परमाणु एक विवक्षित परमाणु में प्रवेश कर सकते हैं और उसी से अनन्त प्रदेशीय स्कन्धों की भी एक आकाश प्रदेश जितनी अवगाहना सिद्ध हो सकती है। श्री लोक प्रकाश तथा भगवती सूत्र के तेरहवें शतक के चौथे उद्देशा की वृत्ति में स्पष्ट बताया है कि औषधि के सामर्थ्य से एक कर्ष (तोला) पारे में १०० कर्ष (तोला) सोना प्रवेश करता है। फिर भी एक कर्ष पारा, वजन में, बढ़ता नहीं है और औषधि के सामर्थ्य से १०० कर्ष सोना और एक कर्ष पारा दोनों भिन्न भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार रूपी पदार्थ भी एक दूसरे में प्रवेश करके रह सकते हैं, तो निगोद अथवा आलू आदि कन्द मूल में, अरुपी अनन्त जीव, अपनी २ विभिन्न अवगाहना नहीं रोक कर, एक ही अवगाह में सभी परस्पर, एक दूसरे में संक्रमित होकर रह सकें, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि द्रव्यों के परिणाम स्वभाव विचित्र होते हैं।

पुद्गल में पुद्गल का अवगाहन तो संक्रान्त और असंक्रान्त दोनो प्रकारो से होता है। परन्तु पुद्गल में आत्मा का अर्थात् शरीर में आत्मा का [illegible] एक जी[illegible]

दूसरे पदार्थ को केवल स्पर्श करके भिन्न रूप से रहे उसे अप्रवेश रीति कहते हैं। जैसे, एक बड़ी डिब्बी में उससे छोटी डिब्बी रक्खी जाय तो यह बड़ी डिब्बी को स्पर्श करके भिन्न रुप से रहेगी, और इस प्रकार स्पर्श करके भिन्न रूप से रहने की रीति अप्रवेश रीति कहलाती है।

एक पदार्थ अन्य पदार्थ में मात्र स्पर्श करने के रूप से न रह कर मट कर रहे तो उस प्रकार रहने की रीति को प्रवेश रीति अथवा संक्रांत रीति कहते हैं। जैसे लोहे के गोले में अग्नि, एक दीपक के तेज मे अन्य दीपक का तेज इत्यादि के अवगाहन को प्रवेश रीति अथवा संक्रांत रीति कहते हैं। क्षेत्र में क्षेत्री अर्थात् आकाश में धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का अवगाहन "संक्रांतावगाह" कहलाता है। पुदगल म पुदगल का अवगाह संक्रांत (प्रवेश रीति) और असंक्रांत (अप्रवेश रीति) इन दोनों प्रकार से होता है। असंक्रांत तो बड़ी डिब्बी में छोटी डिब्बी रह सकती है, इस दृष्टान्त से समझी जा सके ऐसी वस्तु है, और संक्रांत अवगाह के अनुसार एक दीपक के तेज में अन्य दीपक के तेज का प्रवेश हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

पुदगलों मे पुदगल सर्वांश रूप से प्रविष्ट होकर रह सकते हैं, यह बात अति स्पष्ट रूप से समझाते हुए

शास्त्रकार कहते हैं कि एक परमाणु में दूसरा परमाणु, दूसरे में तीसरा, तीसरे में चौथा, चौथे में पाचवा, इस प्रकार सख्यात परमाणु एक विवक्षित परमाणु में प्रवेश कर सकते हैं और उसी से अनन्त प्रदेशीय स्कन्धों की भी एक आकाश प्रदेश जितनी अवगाहना सिद्ध हो सकती है। श्री लोक प्रकाश तथा भगवती सूत्र के तेरहवें शतक के चौथे उद्देशा की वृत्ति में स्पष्ट बताया है कि औषधि के सामर्थ्य से एक कर्ष (तोला) पारे में १०० कर्ष (तोला) सोना प्रवेश करता है। फिर भी एक कर्ष पारा, वजन में बढ़ता नहीं है और औषधि के सामर्थ्य से १०० कर्ष सोना और एक कर्ष पारा दोनों भिन्न भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार रूपी पदार्थ भी एक दूसरे में प्रवेश करके रह सकते हैं, तो निगोद अथवा आलू आदि कन्द मूल में, अरुपी अनन्त जीव, अपनी २ विभिन्न अवगाहना नहीं रोक कर, एक ही अवगाह में सभी परस्पर एक दूसरे में संक्रमित होकर रह सकें, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि द्रव्यों के परिणाम स्वभाव विचित्र होते हैं।

पुद्गल में पुद्गल का अवगाहन तो संक्रान्त और असंक्रान्त दोनों प्रकारों से होता है। परन्तु पुद्गल में आत्मा का अर्थात् शरीर में आत्मा का और एक जीव में

अन्य जीव का अवगाह सक्रान्त रूप से ही होता है, और इसीलिये शरीर में रही हुई आत्मा कहीं भी भिन्न नहीं दिखाई पड़ती है।

निगोद शरीर में एक जीव सक्रान्त अवगाहन करता है। अर्थात् परस्पर तदात्म्यरूप से रहा हुआ होता है, उसी प्रकार अन्य जीव भी उसमें सक्रमित होकर रहा हुआ होता है। इसी प्रकार तीसरा, चौथा, सख्यात, असख्यात और अनन्त जीव भी परस्पर एक दूसरे में सक्रमित होकर रहते हैं। इससे पता चलता है कि जीवों के एक ही शरीर में समान अवगाहना से प्रवेश करके रहने की बात बहुत सरल ढग से समझ में आसकती है। इस प्रकार अनन्त जीवो के बीच बना हुआ एक साधारण शरीर कहलाता है, और अनन्त जीवो के साधारण नाम कर्म के उदय से, इस प्रकार साधारण शरीर की प्राप्ति अनन्त जीवों के बीच होती है। इन साधारण शरीर धारी जीवो को निगोद, अनन्तकाय अथवा साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं।

मात्र एक ही शरीर की रचना में अनत जीवों की पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियाँ काम करती हैं ऐसा कहने का अर्थ यही है कि अनतकाय का शरीर अनत भागीदारों की एक पेढ़ी के समान है और यह भागीदारी

दुनिया की अन्य भागीदारी की अपेक्षा अति आश्चर्य कारी है। जिस शरीर में एक भागीदार रहता हो उसी शरीर में अनत भागीदार रहते हैं, श्वास भी सब साथ ही लें, आहार भी सब साथ ग्रहण करें, अकेला न साँस ले सकता है, न आहार ग्रहण कर सकता है। आहार, शरीर, इन्द्रियाँ, श्वासोश्वास आदि सब में इन सभी जीवों की भागीदारी होती है। ऐसी भागीदारी अनन्त जीवो के बीच एक शरीर बनाकर अनन्तकाय में आत्मा स्वीकार करती है यह भागीदारी पाँच पचीस वर्षों तक की ही नहीं, परन्तु अनन्तकाल तक रहती है। इस भागीदारी से मुक्ति पाना यह पुरुषार्थ से नहीं होकर केवल भवित-व्यता के योग से ही हो सकता है। ऐसी भागीदारी के स्थान को केवल सर्वज्ञ भगवन्त ने ही अपने केवल ज्ञान से देखकर जगत प्राणियो को उसी भयकर भागीदारी में से बचाने का मार्ग दर्शन किया है।

ससारी प्राणियो की शरीर रचना किस प्रकार होती है, वह रचना कौन करता है, तथा किससे करता है, यह सारी बातें पुदगल विपाकी कर्म प्रकृतियो के ज्ञान से बराबर समझमें आ सकती हैं। इन कर्म प्रकृतियो का स्वरूप नहीं समझने वाले व्यक्ति को शरीर विषयक वास्तविक ज्ञान कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है। इस

सम्बन्ध में सुन्दर एवं अति स्पष्ट विवरण एक मात्र जैन दर्शन में ही हमें प्राप्त होता है। सुख दुःख में कर्म ही कारण भूत है, इतने ही केवल संक्षेप में ख्याल से, कर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले कई दर्शन, शरीर रचना का ठीक ज्ञान पैदा नहीं कर सके हैं। इसीलिये किसी ने शरीर रचना की जिम्मेदारी ईश्वर पर डाली, तो किसी ने पंचभूतों का पुतला पंचभूतों में से ही उत्पन्न होता है, ऐसी मान्यता में ही सतोषवृत्ति स्वीकार करली।

सूक्ष्म बुद्धि से समझने वाला समझ सकता है कि इस जगत के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ, परमाणु के भिन्न भिन्न प्रकार के संयोग से बनते हैं। पूरण और गलन यह पुद्गल परमाणु का स्वभाव होने से परमाणु युक्त पदार्थों में अनेक प्रकार के रूपान्तर होने की योग्यता हम पाते हैं।

जीव जिन वनस्पतियों का भक्षण करते हैं, वही वनस्पति रूधिर, मांस, मज्जा, अस्थि आदि में परिणत होती हैं। मिट्टी पत्थर के रूप में तथा पत्थर विविध प्रकार के रूप में अथवा हीरे माणिक्यादि रत्नों के रूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार रूपान्तर होने में किसी की प्रेरणा को स्वीकार नहीं करके, मात्र इतना ही मानना उचित है कि पदार्थों का स्वभाव ही इस प्रकार का होता

है। अमुक २ निमित्त कारणों के योग से पदार्थों में रहे हुए, उस २ प्रकार के स्वभाव स्वत प्रकट होते हैं। बीज में से अनाज बनने की योग्यता है, परन्तु बीज के अनुकूल खाद, वर्षा और कृषक का योग प्राप्त होने से ही बीज में से अनाज पैदा होता है।

द्रव्य की मूल उत्पत्ति कहाँ से हुई ?

किसी वस्तु का रुपान्तर हम समझ सकते हैं परन्तु रुपान्तरित होने वाले उन पदार्थों की उत्पत्ति कहाँ से हुई ? इस बात का विचार करने से यही पता लगेगा कि किसी भी पदार्थ की मूल उत्पत्ति हो है ही नहीं। अर्थात् नाश भी नहीं। मात्र रुपान्तर होने के हिसाब से पर्यायों-अवस्थाओं का आदि अन्त कहा जा सकता है। परन्तु मूल द्रव्य का आदि अन्त नहीं। जिन पुद्गल द्रव्यों में हम रुपान्तर देखते हैं, वे द्रव्य-पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों के धारण किये हुए अथवा छोड़े हुए शरीर ही हैं। शरीर किसी द्रव्य की नवीन उत्पत्ति नहीं है, परंतु प्रयोग परिणाम से परिणत द्रव्य का रुपांतर है। ये शरीर जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए औदारिक वर्गणा के पुद्गलों और उनके परिणाम से बने हुए होते हैं। अतएव शरीर, औदारिक पुद्गल वर्गणा के पुद्गलो का रुपांतर है। शरीर धारण करने

वाला जीव, उस शरीर को छोड़कर अन्य स्थान पर चला जाता है, तब उस शरीर के भी विविध रूप से रुपातर मिश्र परिणाम से होते हैं।

शरीर-रचना में उपयोगी औदारिकादि पुदगल वर्गणा की सूक्ष्मता

जिस अणुसमूह से शरीर बनता है, वह अणुसमूह इतना सूक्ष्म है कि हम उसे देख नहीं सकते हैं। एटम बम अथवा हाईड्रोजन बम का कार्य हम देख सकते हैं, परन्तु उसके अणुओं को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते हैं। फिर भी उस अणुसमूह का अस्तित्व हम स्वीकार करते हैं। तो फिर जिस अणु से बम बनते हैं, उस अणु की अपेक्षा, शरीर रचना के उपयोगी अणु जो अति सूक्ष्म होते हैं उन्हें पृथक् २ हम अपने चर्म चक्षुओं से कैसे देख सकते हैं? इतना होते हुए भी आज के परमाणु की गिनती के युग में तो ऐसे सूक्ष्म अणुओं की बात भी बुद्धि में उतरने योग्य है। अत. उसके अस्तित्व के विषय में कोई इन्कार कर सके ऐसी बात नहीं है।

पुदगल के अविभाज्य भाग को परमाणु कहते हैं। ऐसे अविभाज्य भाग रूप अणु को आज के वैज्ञानिकों ने माना है। परन्तु ऐसे अणु को प्राप्त करने में वे अभी तक असमर्थ रहे हैं। कुछ समय पूर्व एटम के रूप में

गिना जाने वाला भाग, अविभाज्य भाग माना जाता था, परन्तु जैसे २ विज्ञान प्रगति करता गया वैसे २ उस एटम को अविभाज्य भाग मानने की भूल होती गई। सन् १९०३ में 'मोडर्न न्युज ओन मैटर' नाम की पुस्तक प्रसिद्ध हुई थी। उसके पृष्ट १२-१३ की हकिकत से विज्ञान सृष्टि में भारी गलवली मची। उसके अनुसार "उस समय तक एटम्स को अविभाज्य मानने में भूल गिनाई। हाइड्रोजन आदि के जो अणु मूल और अविभाज्य गिने जाते थे वे प्रत्येक असरय सूक्ष्म अणुओं की समष्टिरूप स्थूल अणुरूप मान्य हुए। ऐसे स्थूल अणुरूप एटम्स भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते हैं तो सूक्ष्म अणुरुप औदारिक पुद्गल वर्गणाएँ कैसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं।

अणु और अणुओं से बने हुए स्थूल अणु भी हमारी और वैज्ञानिक दृष्टि से कितने सूक्ष्म दीखते हैं इस पर आजके वैज्ञानिक कहते हैं कि एक इन्च सोने के वरख के २८२००० थर समाते हैं। चार माप मापवाली मकड़ी जालका तार ४०० मील लम्बा हो सकता है। अर्ध अगुली घन स्थान में २१०००००००००००००००००० (एकीस पर अठारें मींडे) अणु दिखाई देते हैं। न पकड़े जा सके ऐसे अदृश्य कणों (अणु) की भी तस्वीर लेनेका यन्त्र अमेरिका की पेन्सिल्वेनिया युनिवर्सिटी ने

विज्ञान के प्राध्यापक डॉ० मूलर ने अपने १९ वर्ष के संशोधन के बाद बनाया है। उसे "फिल्ड आयोन माइक्रोस्कोप कहते हैं। तस्वीर लेने के लिये एक आलपिन की सूक्ष्म नोक की अपेक्षा एक हजार गुनी सूक्ष्म टंगस्टन तार की नोक पर रहे हुए अणुओं को माइक्रोस्कोप में डाला गया। उसके अन्दर का उष्णतामान प्रवाही नाइट्रोजन से शून्य करते ३०० अंश नीचे उतार दिया। आवश्यक आयोन बनाने के लिये हीलियम वायु का उपयोग करके अणु आच्छादित टंगस्टन की नोक से एक फ्लुओरेसन्ट पट पर अत्यन्त विशाल चित्र डाला।

फिर किसी विशेष प्रकार के केमरे से इस पर्दे की तस्वीर ली जाने पर टंगस्टन तार की नोक पर रहे हुए सूक्ष्म कणों की मोती जैसी मालायें उस चित्र पर दर्शी गई। उस चित्र में छपा हुआ विस्तार एक इंच के दस लाखवें भाग जितना था। उसे साढ़े सचाइस लाख गुना बढ़ा कर सबको बताया गया, तब स्पष्ट रूपसे वह देखा जा सका। इससे समझ में आएगा कि आपके माने हुए अणु (एटम) की प्रमाण रचना भी कितनी सूक्ष्म है कि जिसे लाखों गुनी बढ़ा करके ही उसका दृश्य दिखाया जा सकता है। फिर उस बारीक अणु को भी वैज्ञानिकों ने असख्य सूक्ष्म अणुओं की समष्टिरूप अणु बताया

है तो कल्पना कीजिये कि उस स्थूल अणु में गर्भोनिव हुए सूक्ष्म अणुओं में से प्रत्येक सूक्ष्म अणु का विस्तार कितना सूक्ष्म होगा। सूक्ष्म अणु का नाम अंग्रेजी में eleeTron विद्युत्कण है। सर ओलीवर लोज का कथन है कि प्रतीत होने वाली सभी वस्तुओं का उपादान कारण विद्युत्कण ही है।

उसकी सूक्ष्मता के विषय में पाश्चात्य विद्वान कहते हैं कि हाइड्रोजन के एक ही शुद्ध अणु में १६००० विद्युत्कण हैं। सर ओलीवर लोज का कहना है कि इस प्रकार संयुक्त विद्युत् अणुओं में भी परस्पर बहुत अन्तर है। यानें एक निरंश अणु में जो विशाल संख्यावाले विद्युत्कण हैं वे भी एक दूसरे के स्थान से भिन्न २ प्रतीत होते हैं। एक रेडियम आदि के निरंश समुदाय रूप रह हुए समस्त विद्युत्कण गीचोगीच नहीं रह कर भिन्न २ रहते हैं और उनके बीच का अन्तर बहुत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान सृष्टि में एटम की अपेक्षा विद्युत्कण को बहुत सूक्ष्म बताया गया है, और विद्युत्कण की अपेक्षा भी सूक्ष्म भागको समझाने के लिये कहा जाता है कि विद्युत्कण भी किन्हीं अन्य सूक्ष्मतम द्रव्यों की समष्टिरूप हों तो इसे कौन इन्कार कर सकता है। इस प्रकार अणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म विद्युत्कण और

उससे भी अधिक सूक्ष्मतर परमाणु का अस्तित्व आधुनिक विज्ञान द्वारा भी सिद्ध हो चुका है। तो जिन परमाणुओं से शरीर बनता है, उन औदारिक वर्गणा के पुद्गलों की भी सूक्ष्मता सिद्ध होती है। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार पदार्थ की सूक्ष्मता भी मर्यादित है परन्तु अनन्त ज्ञानियों (सर्वज्ञ देवों) की दृष्टि में आनेवाली सूक्ष्मता तो वैज्ञानिकों की दृष्टि म आनेवाली सूक्ष्मता से भी कहीं अधिक सूक्ष्म है।

वस्तु की सूक्ष्मता बालजीवों की बुद्धि में ठसाने के लिये एटम आदि की सूक्ष्मता के स्वरूप का दृष्टान्त उपयोग में लिया गया है। अतः जिस औदारिकादि पुद्गल वर्गणा से शरीर तैयार होता है, वह पुद्गल वर्गणा इतनी अधिक सूक्ष्म है कि छद्मस्थ जीवों के चर्म चक्षुओं के विषय में तो वह आ ही नहीं सकती है। परन्तु परिणत होकर शरीर रूप में तैयार होने के साथ ही उस वर्गणा का अस्तित्व अवश्य प्रमाणित होता है। इन औदारिकादि (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण) वर्गणा के पुद्गलों में शरीर के रूप में परिणमन करने की योग्यता तो है ही, परन्तु उनका परिणमन तभी सम्भव हो सकता है जब कि कार्मण वर्गणा के पुद्गल निमित्त बने।

दूध पानी की तरह जीव के साथ मिल कर रहे हुए

और पुद्गल विपाकी कर्म नाम से पहिचान में आनेवाले कार्मण वर्गणा के पुद्गलों के निमित्त से और जीव के प्रयत्न से औदारिकादि वर्गणा के पुद्गलों में से संपूर्ण शरीर की रचना होती है। अर्थात् शरीर रचना तभी संभव हो सकती है जबकि औदारिकादि वर्गणाके पुद्गलों, पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियों और जीव के स्वप्रयत्नों का योग हो। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में भी शरीर रचना की संभावना नहीं रहती।

ईश्वर अवतार लेता है या नहीं ?

कर्म से सर्वथा मुक्त होने वाली आत्माएँ शरीर रहित होती हैं। वे शरीर बनाती भी नहीं हैं। संसार में अवतार लेने की उपाधि से वे सर्वथा मुक्त होती हैं। क्योंकि अवतार लेने में तो शरीर धारण करना पड़ता है और शरीर धारण करने में तो औदारिकादि पुद्गल वर्गणा को ग्रहण और परिणमन की आवश्यकता रहती है, और इस ग्रहण तथा परिणमन में पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियाँ निमित्त रूप होनी चाहिये। मोक्ष में गई हुई सभी आत्माएँ कर्म से रहित होती हैं, उन्होंने ईश्वरत्व प्राप्त किया होता है। अत: कर्म मुक्त आत्माओं में पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियाँ भी नहीं होती हैं और उन कर्म प्रकृतियों के बिना औदारिकादि पुद्गल वर्गणाओं

का ग्रहण और परिणमन भी नहीं होता है, तो उनके बिना शरीर की रचना भी कैसे हो सकती है? अर्थात् मुक्त आत्माएं पुन कर्म धारण नहीं करती हैं और न उसके बिना शरीर ही धारण हो सकता है।

शरीर के बिना अवतार भी नहीं होता है। अत बहुत से कहते हैं कि ईश्वर अवतार धारण करता है, यह बात बुद्धि सगत नहीं है। जैन दर्शन की तो मान्यता है कि अवतार म स ईश्वर बनता है, परन्तु ईश्वर में से अवतार धारण नहीं होता है। आत्मा और कर्म का स्पष्ट स्वरूप समझने वाला ही इस बात को समझ सकता है।

जगत कर्त्ता ईश्वर नहीं

अपनी २ आत्मा म सत्तारूप रही पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियों के द्वारा उन कर्म प्रकृतियों को धारण करने वाली आत्मा स्व प्रयत्न से ही औदारिकादि पुद्गल वर्गणाओं के ग्रहण एव परिणमन द्वारा अपने ही लिये शरीर रचना कर सकती है। इस बात से यह अवश्य सिद्ध होता है कि जगत कर्त्ता ईश्वर नहीं है। आगे कहा गया है कि जगत में दृष्टिगोचर होनेवाली वस्तुए प्राय ससारी जीवों के द्वारा धारण किये हुए शरीर अथवा जीवो के त्याग किये हुए शरीरो का रूपान्तर होती हैं, और उनकी रचना उन शरीर के धारक जीव ही करते हैं।

जगत की वस्तुओं का निर्माण करने में ईश्वर को हेतु मानना उचित नहीं है। शरीर बनाने में ईश्वर अथवा किसी अन्य का प्रयत्न या प्रेरणा नहीं होती है। प्रयत्न यदि किसी का है तो मात्र शरीर धारक जीव का ही है।

जगत के उत्पादन अथवा प्रलय की बातें मिथ्या हैं

यह जगत अनादिकालीन है। अनादिकालीन यह जगत अनन्तकालीन भी है। यह जगत कभी भी अस्तित्व में नहीं था, ऐसा हुआ ही नहीं, और इसका अस्तित्व कभी भी मिट सकता है, ऐसी भी बात नहीं होगी। अनादि अनन्त ऐसे इस जगत में जीव और जड दो प्रकार के पदार्थ हैं। इससे जगत के प्रत्येक पदार्थ का या तो जीव में अथवा जड में समावेश हो जाता है। संसार में कभी जीव बिना मात्र अकेले जड पदार्थों का ही अस्तित्व हो ऐसा कभी हुआ ही नहीं और न ऐसा होगा भी। जीव के साथ कर्म जैसे जडके योग से ही संसार है, संसार में रहे हुए जीव, शरीर धारी होकर ही रहते हैं। संसारी जीव को शरीर धारण करना ही पडता है। जड कर्म पुद्गलों का संयोग ही जीव को शरीर धारण करवा कर संसारी के रूप में रखता है। जडके इस संयोग से कई जीव मुक्त होकर निरंजन निराकार रूप स्वदशा को प्राप्त करते

। ऐसा होते हुए भी जगत में से सभी जीव इस दशा को प्राप्त करलें और जगत सम्पूर्णतया जीव विहीन हो जाय, ऐसा तो न कभी सम्भव हुआ है और न होगा ही। संसार रूपी इस कारखान में शरीर निर्माण का कार्य प्रवाह तो सदा बहता ही रहता है। अतः समग्र संसारी जीवों की अपेक्षा सम्पूर्ण जगत का कभी भी प्रलय हो ऐसी जैन दर्शनकारों की निर्मूल मान्यता नहीं है।

साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कर्म रहित जीव कभी शरीर धारण करते नहीं। कर्म के संयोग से सर्वथा रहित ऐसे जीव का संयोग जड़ के साथ करवाने का किसी में सामर्थ्य नहीं है। अतः समग्र जगत के पुनरोत्पादन की बात भी सर्वथा मिथ्या है। इस प्रकार जगत के उत्पादन अथवा प्रलय की बातें असम्भव ही हैं।